हरिहरानन्द आरण्य कृत भास्वती का आलोचनात्मक अध्ययन

(Hariharanand Aranya Krit Bhaswati ka Alochanatmak Adhyayan)
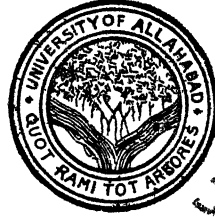
इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिए प्रस्तुत
शोध-प्रबन्ध

निर्देशक :
डॉ. सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव
प्रोफेसर एव अध्यक्ष
सस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

शोधकर्त्री :
श्रीमती शाहीन जाफरी
एम० ए० (सस्कृत)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

सस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद
इलाहाबाद

1990

:: भूमिका ::

सृष्टि की अनबूझी प्रक्रिया को समझने और उसके रहस्यों को हृदयंगम करने का प्रयत्न मानव आज से हजारों वर्षों से पूर्व ही करने लगा था । वस्तुतः शोध का यह परिफल ही है जो दार्शनिक ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध होता है ।

प्रारम्भ से ही सृष्टि के रहस्य को समझने की आकांक्षा के कारण स्नातकोत्तर के अध्ययन काल में मैंने दर्शन विषय का चयन किया । योग-दर्शन के प्रति स्वाभाविक रूप से विशेष रुचि उत्पन्न हुई एवं उसी विषय में कार्य करने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई । इस दिशा में प्रवृत्त होने की प्रेरणा मुझे गुरूणां गुरू परमपूज्य डा. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव्य, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के प्रति अत्यन्त आभारी हूँ क्योंकि उनकी सत्प्रेरणाएं एवं शुभाशीर्वाद से शोध कार्य से सम्बद्ध ग्रन्थियों का कुशलतापूर्वक समाधान हो सका । उनकी सहानुभूति स्नेह, अमूल्य मार्गदर्शन से ही शोध कार्य पूर्ण हो सका । आपके सराहनीय योगदान के लिए मैं जीवन-पर्यन्त कृतज्ञ रहूँगी ।

अज्ञानगहनालोकसूर्यसोमाग्नि मूर्तये ।
दुःखध्वान्ति-सन्तापशान्त्ये गुरवे नमः ।।

इस शोध-प्रबन्ध को प्रस्तुत करने में समस्त गुरुजनों के बहुमूल्य सहयोग के प्रति आभार प्रकट करना मेरा परम-कर्तव्य है ।

मैं राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के प्रति भी आभारी हूँ जिसने मुझे अनुदान प्रदान किया । जीवन की आधारशिला रखने वाले परम-पूज्यनीया,

अगाधवात्सल्यमूर्ति, सुसंस्कृता, स्नेहमयी माता श्रीमती रेहाना जाफ़री एवं पिता श्री मिसबाहउद्दीन जाफ़री को बारम्बार श्रद्धा सुमन अर्पित करती हूँ। बहुविध साहाय्य प्रदान करने वाले अपने पति-परमेश्वर डॉ० मोहम्मद शरीफ़ को ग्रन्थ की पूर्ति हेतु अनेकशः धन्यवाद देती हूँ।

अन्ततः इस शोध-निबन्ध को गुण-दोष परीक्षण हेतु नीरक्षीरविवेकी परीक्षकों के सम्मुख प्रस्तुत करती हूँ।

शोधकर्त्री,

शाहीन जाफ़री

{श्रीमती} शाहीन जाफ़री
प्रवक्ता,
शिबली नेशनल स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, आजमगढ़।

निर्देशक:
प्रो० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव,
अध्यक्ष
संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद।

-: विषयानुक्रमणिका :-

प्रथम अध्याय

हरिहरानन्द आरण्य का

जीवन-परिचय

* * *

प्रथम अध्याय

जीवन - परिचय

अशेष सांख्ययोगार्थ - प्रवर्तनेऽभिलेभिरे ।
श्रीमद्-हरिहरानन्द स्वामिने यत्ये नमः ।।

योग-सूत्रों पर अर्वाचीन संस्कृत टीकाओं में हरिहरानन्द आरण्यकृत भाष्यवती टीका विस्तृत विश्वसनीय एवं अत्यन्त उपादेय है । इसी कारण आधुनिक काल के योगाचार्यों में आचार्य हरिहरानन्द आरण्य का नाम अग्रगण्य है । भारतीय परम्परा का अनुसरण करते हुए ही आचार्य हरिहरानन्द आरण्य ने भी अपनी रचनाओं में अपने जीवन से सम्बन्धित तथ्यों का किंचित भी प्रकटीकरण नहीं किया । परन्तु आचार्य के विषय में जो अल्प उल्लेख आज उपलब्ध है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे हुगली के एक समृद्ध बंगाली परिवार से सम्बन्धित थे । उन्होंने अत्यन्त विद्वतापूर्ण उच्च शिक्षा भी प्राप्त की थी । परन्तु कुछ समय के पश्चात् स्वेच्छा से ही सम्पूर्ण धन, वैभव एवं सुविधाओं का त्याग कर दिया एवं सत्यान्वेषण के लिए घर से निकल पड़े । सन्यासी धर्म को सहर्ष स्वीकार करके उन्होंने सन्यस्त जीवन के कठोर नियमों का संयमपूर्वक पालन किया । योगमार्ग पर आरूढ़ होकर एकाकी गुहाओं में एकान्तवास करते हुए अनेक वर्ष व्यतीत किए ।

आरण्य स्वामी जी की जीवनी के रूप में कुछ भी कहना निषिद्ध है त्रिलोकी आरण्य नामक कोई सन्यासी उनके गुरु थे जिनसे उन्होंने सन्यास लिया था निर्जन गुहा आरण्य, आदि में दीर्घ काल तक "एकाकी यत-चित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः" के रूप में रहकर इस विद्या का अन्तरंग मनन निदिध्यासन किया और त्रिवेणी तीर्थ में कुछ साल रहकर व्यास भाष्य की विस्तृत व्याख्या बंगला में लिखी । स्वामी जी की पाली भाषा का

भी उत्कृष्ट ज्ञान था जो उनके पालि धर्मपद के संस्कृत श्लोकमय अनुवाद से ज्ञात होता है । इस पद्यानुवाद की प्रशंसा विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी की थी । ﴾द्र० वंगदर्शन पत्रिका नव पर्याय﴿ 1312 ज्येष्ठ संख्या ﴿ ।

आचार्य के सन्यासी जीवन का शुभारम्भ बिहार के बड़ाबार पर्वत श्रृंखलाओं से हुआ । इन पर्वत श्रेणियों के ऊपर महाराज अशोक के धर्मोपदेश अंकित हैं । शहरी जीवन से ये इतने दूर हैं कि मानव समुदाय सरलता से इन पर्वत श्रृंखलाओं तक पहुँच नहीं सकता है ।

तत्पश्चात आचार्य हरिहरानन्द आरण्य ने कुछ वर्षों तक बंगाल में गंगा नदी के किनारे एक छोटी-सी कुटिया बनाकर निवास किया । अपनी योगसाधना में किंचित भी व्यवधान न डालते हुए हिमालय में हरिद्वार, ऋषिकेश और कुमाँयू आदि स्थानों पर निवास करते हुए व्यतीत किए ।

जीवन के अंतिमांश स्वामी जी ने बिहार के अन्तर्गत मधुपुर नगर में बिताया । यहाँ नगर के बाहर उन्होंने एक कृत्रिम गुहा का निर्माण कराकर उसमें आजीवन रहने के लिए प्रविष्ट हुए ﴾ 14-5-1926 ई. में﴿ फिर देहत्याग पर्यन्त उस गुहा में ही अवरुद्ध रहे । उनके देहत्याग का समय 5 वैशाख 1354 बंगीय संवत है । वे लगभग 78 वर्ष तक जीवित रहे । इस अवधि में आचार्य ने अपने को सांसारिक जीवन से पूर्णतया विरक्त कर लिया और पूर्ण एकान्त का पालन किया । यहाँ तक कि अपने शिष्यों से सम्पर्क स्थापित करने के लिए भी वे एक खिड़की का प्रयोग करते थे । एक विशाल कक्ष में उनके शिष्य बैठे रहते थे और आचार्य स्वयं एक खिड़की से उन्हें दर्शन देकर उनकी दार्शनिक समस्याओं का समाधान करते थे ।

एक सन्यासी के रूप में जीवन यापन करते हुए आचार्य ने अनेक दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयन किया । इन ग्रन्थों की कुल संख्या लगभग सात या आठ है ।

उन सब में आचार्य का "योगदर्शन" नामक ग्रन्थ सर्वोत्तम है । परम साधना एवं स्वानुभूति के आधार पर रचित उनके ग्रन्थों में से अधिकांश संस्कृत अथवा उनकी मातृभाषा बंगला में है । प्रारम्भ में तो उनके शिष्यों ने आचार्य के ग्रन्थों का व्यावसायिक रूप से उपयोग नहीं किया और ये ग्रन्थ प्रकाशित करवा कर ज्ञानार्जन के लिए परस्पर ही बाँट लिये । तत्पश्चात् अन्य भारतीय दार्शनिक भी आचार्य हरिहरानन्द आरण्य के मतों को मान्यता देते हुए स्वीकार करने लगे । अब पाश्चात्य दार्शनिकों ने आचार्य की दार्शनिक प्रतिभा को पहचाना तो वे भी अपनी दार्शनिक समस्याओं के समाधान के लिए आचार्य के समीप आने लगे । इसी अवधि में पाश्चात्य दर्शनविदों ने आचार्य से उनके "योगदर्शन" का अंग्रेजी में भी अनुवाद करने की प्रार्थना की । इस प्रार्थना से आचार्य कुछ दुविधा में पड़ गये क्योंकि वे स्वयं को इस प्रकार के सामाजिक जीवन से बहुत पहले ही विमुक्त कर चुके थे । एक सन्यासी के लिए अनुवाद आदि कार्य असंभव-सा भी था । तथापि आचार्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ "योगदर्शन" को कलकत्ता विश्वविद्यालय ने बंगला में प्रकाशित किया । योगदर्शन में यह एक अमूल्य ग्रन्थ माना जाता है । इस ग्रन्थ की उपादेयता से प्रेरित होकर बंगला भाषा से अनभिज्ञ लोगों के लिए इसका हिन्दी अनुवाद कालान्तर में लखनऊ विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ । हिन्दी में इस ग्रन्थ के सफल अनुवाद को देखकर आचार्य हरिहरानन्द आरण्य के मन में इसके अंग्रेजी अनुवाद को करवाने का विचार भी आया । अपने जीवन के अंतिम काल में आचार्य ने अपने भारतीय एवं विदेशी विद्वान शिष्यों से "योगदर्शन" का अंग्रेजी अनुवाद करने का अनुरोध किया । परन्तु उनके जीवनकाल में उनकी यह इच्छा दुर्भाग्यवश पूर्ण न हो सकी ।

परन्तु उनके देहावसान के कुछ समय बाद मैसूर स्थित कपिल मठ के एक शिष्य श्री पी. एन. मुखर्जी ने इस बंगला ग्रन्थ को अनूदित करके

आचार्य की अंतिम इच्छा को पूर्ण किया । योगदर्शन में आस्था रखने वाले अंग्रेजी प्रेमियों के लिए यह एक अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है ।

आचार्य द्वारा रचित ग्रन्थों में अन्य मुख्य "सरल सांख्ययोग", "सांख्यतत्वालोक", एवं "भास्वती" है । "भास्वती" योगभाष्य पर लिखा गया एक टीका ग्रन्थ है । चौखम्बा संस्कृत सीरीज के द्वारा प्रकाशित योगभाष्य की चार टीकाओं में से एक यह भी है । इसमें सांख्य और योग के अनेक गूढ़ रहस्यों का सुन्दर रीति से प्रकाशन किया गया है । भास्वती की सरल प्रतिपादन शैली से महान विद्वान महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज जी भी अत्यन्त प्रभावित हैं । सन् 1936 में कविराज ने आचार्य के विषय में जो शब्द कहे थे उनसे आचार्य की सांख्य योगदर्शन में देन एवं उनकी महानता का आभास पाया जा सकता है ।

*****

द्वितीय अध्याय

—x—

भास्वती का स्वरूप

* * *

द्वितीय अध्याय

भास्वती का स्वरूप

स्नेहद्रवान्तःकरणाच्छरण्यं कृपाप्रतिष्ठाकृतसांख्यमूर्तिम् ।
तथा प्रशान्तं मुदितप्रतिष्ठं भाष्यकृद्व्यासमुनिं नमामि ।।

हिरण्यगर्भेण परमर्षेः कपिलस्य संक्रान्त

भास्वती ग्रन्थकार आचार्यचरण स्वामी हरिहरानन्द अरण्य के दीर्घकालीन तपःसम्भूत मनन निदिध्यासन की फलश्रुता और योगविद्या के क्षेत्र में युगान्तकारी है । आचार्य से संबंधित यह टीका योगदर्शन का स्वरूप पाठक के समक्ष उपस्थित करती है । इसमें योगतत्त्व सम्बन्धी प्रचलित भ्रान्त दृष्टियों का निराकरण, आचार्य की सूक्ष्म दृष्टि और विषय को सरलता से स्पष्ट करने की उत्कृष्ट प्रतिभा यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती है ।

भास्वती के प्रारम्भ में भाष्यकार व्यास की स्तुति आराधना एवं वंदना की गयी है । प्रारंभिक श्लोकों से आचार्य की भाष्यकार के प्रति अगाध श्रद्धा के दर्शन हमें होते हैं । साथ ही आचार्य ने तृतीय श्लोक में यह उल्लेख भी कर दिया है कि भास्वती की रचना भाष्य का बोध सरलता से प्राप्त करने के लिए ही की गयी है । चतुर्थ श्लोक में भास्वती का वर्णन करते हुए आचार्य इसे उपोद्‌घात प्रधान, संक्षिप्त, पदों का बोध कराने वाली, शंका और विकल्पों से हीन तथा योगियों को प्रसन्न करने वाली इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं । इसी संदर्भ में आचार्य

हिरण्यगर्भ को योग का आदिम वक्ता स्वीकार करके परमर्षि कपिल से उसका अभेद स्थापित करते हैं । इसी प्रकार आचार्य ने सूत्रकार पतंजलि को भी परम-कारुणिक भगवान् कहकर उनके प्रति अपना आदरभाव एवं आस्था प्रकट की है ।

योगसूत्रों एवं योगभाष्य के आधार पर भास्वती भी चार पादों में विभक्त है । समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद एवं कैवल्यपाद— ये चार हैं । इन चारों पादों में आरण्य के योग सम्बन्धी समस्त सिद्धान्तों का संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित संकलन हुआ है । योगवार्तिक के सदृश विस्तारपूर्ण टीका न होने पर भी लघु कलेवर की भास्वती आचार्य के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने में पूर्ण सफल एवं समर्थ है । आचार्य ने सर्वत्र अनावश्यक विस्तार के लोभ का संवरण करके भाष्य शैली के आदर्श की स्थापना की है ।

ग्रन्थ के प्रारंभ में ही आचार्य ने सांख्य और योग के अभेद का उद्घोष किया है[1]। आचार्य का पूर्ण विश्वास है कि सांख्य और योग दोनों के ही प्रवर्तक भगवान् कपिल हैं । सांख्य में 25 तत्वों का सम्यक् विवरण है एवं योग में उन तत्वों को प्राप्त करने के उपायों का आकलन किया गया है । अतः सैद्धान्तिक रूप से दोनों दर्शन एक ही हैं एवं एक दूसरे के पूरक हैं, ऐसा आचार्य का मत है ।

भास्वती में योगभाष्य को सरल बनाने के लिए जहाँ पर आवश्यक प्रतीत हो, वहाँ पर शब्दों की व्युत्पत्ति की प्रदर्शन पूर्वक व्याख्या

1- भगवता कपिलेनैव प्रवर्तितः सांख्ययोगः, तत्र सांख्ये पंचविंशतितत्वानि सम्यग् विवृतानि, योगे च तत्वानामुपलब्ध्युपायो विवृतः भा. पृ. 1.

की गयी है[1]। इसके पीछे पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना न होकर विषय को सरलता से प्रतिपादित करने का शुद्ध हेतु ही आचार्य का था। भास्वती पर वाचस्पति मिश्र की तत्त्ववैशारदी का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। आचार्य वाचस्पति मिश्र की विद्वता से अवश्य प्रभावित थे। अनेक स्थलों के वाचस्पति मिश्र की पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या को आचार्य ने यौगिक दृष्टि के द्वारा सरल करके पाठक के सम्मुख प्रस्तुत किया है। विज्ञानभिक्षु की खण्डन मण्डन शैली का सर्वथा अभाव है। प्रायशः "ननु" और "अथ" आदि के द्वारा शंकाओं का उत्थापन एवं निराकरण करने का प्रयास नहीं किया गया है। भास्वती के प्रारम्भ में ही आचार्य ने भास्वती के स्वरूप का उल्लेख करते हुए कहा है कि यह ग्रन्थ शंका और विकल्पों से रहित है एवं आचार्य का यह दावा पूर्ण सत्य भी है।

भास्वती की संभवतः सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें आचार्य की समन्वयात्मक प्रवृत्ति के दर्शन हमें यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। जहाँ पर भी वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु में मतवैभिन्य है वहाँ पर आचार्य ने अपनी अद्भुत मनीषा से मध्य मार्ग का शोध करके दोनों में समन्वय स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

भास्वती के स्वरूप के सम्बन्ध में यह कहना भी असमीचीन न होगा कि जहाँ पर भाष्य अत्यन्त सरल है एवं उसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है, उन स्थलों पर आचार्य ने अपनी लेखनी चलाने की आवश्यकता नहीं

1- उदाहरणार्थ— "योगः समाधिः न च संयोगार्थकोऽयं योगः युज- समाधौ इति शाब्दिकाः। भा. पृ. 6

समझी है। ऐसे अनेक स्थलों पर "इति सुगमम्" अथवा "सुगमम् भाष्यम्" अथवा "स्पष्टं भाष्यम्" कहकर आचार्य आगे बढ़ गये हैं। कहीं-कहीं पर किसी सूत्र के पूरे भाष्य की भी व्याख्या नहीं की है[2]।

1-

1- यो. सू. 1-21, 1-22

2- यो. सू. 3-20, 3-24

तृतीय अध्याय

भामती में योग सम्बन्धी सिद्धान्त, योग का स्वरूप चित्तवृत्तियाँ, सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि

---x---

तृतीय अध्याय

भास्वती में योग का स्वरूप

योग शब्द दिवादिगणीय युज धातु में "घ्यंज" प्रत्यय लगाने से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ समाधि है । योगः समाधिः स च सार्वभौमः चित्तस्य धर्मः। योगसूत्र 1/1 पर भाष्य अर्थात चित्त के सम्यक आधान (समाधान) के लिए ही योग शब्द का प्रयोग किया जाता है । चित्त की समाधि अथवा समाधान एक सार्वभौम धर्म है अर्थात सभी भूमियों में रहता है[1]। संस्कार के कारण चित्त प्रायः जिन अवस्थाओं में रहता है उसे चित्त की भूमियाँ कहते हैं । ये मुख्यतः पाँच हैं — क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध[2]।

इससे यह सिद्ध हुआ कि सांख्ययोगदर्शन प्रयुक्त योग शब्द युज-समाधौ धातु से ही "घञ्" प्रत्यय लगाकर बना हुआ है । चित्तवृत्तिनिरोध रूपी समाधि के अर्थ में ही पातन्जल "योग" का ग्रहण करना चाहिये । यह योग शब्द अन्य अर्थों में प्रयुक्त नहीं माना जा सकता है क्योंकि पातन्जल योग संयोग रूप न होकर वियोगफलक ही है, अर्थात देने वाला होता है । जैसा कि गीता में कहा गया है — दुःख संयोग वियोगं योग संज्ञितम् 6/23.

योग का अर्थ समाधि या चित्तवृत्ति का निरोध अवश्य है किन्तु प्रत्येक समाधि या प्रत्येक प्रकार के चित्तवृत्ति के निरोध को योग नहीं कहा जा सकता फिर योग किस समाधि को कहेंगे?

---

1. योगः समाधिः स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः । यो. भा. सू. 1-1
   क्षिप्ता, मूढा च विक्षिप्ताएकाग्रा च निरुद्धिका ।

2. सत्त्वेभ्य, सहजाच्च धाः क्रमोमाश्चित्तभूमयः । योगकारिका—9.

यहाँ पर यह आशंका होती है कि चित्त की समाधि ही योग है और यह समाधि चित्त का सार्वभौम धर्म है अर्थात् चित्त की सभी भूमियों में रहती है तो क्या प्रत्येक मनुष्य प्रतिपल योगसाधन में लगा रहता है? अथ योगानुशासनम् योग सू. 1/1, योगश्चित्तवृत्ति निरोधः यो. सू. 1/2 तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् यो. सू. 1/3, सूत्रों में मिल जाता है । इसकी व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि पांच में से अंतिम दो अर्थात् निरुद्ध और एकाग्र ही योगसाधन में उपयोगी हैं । इन दो चित्त-भूमियों की समाधि ही कैवल्य प्रदान करने में उपयोगी है । लोभ और मोह के वश में आकर कभी-कभी क्षिप्त और मूढ़ भूमियों में भी चित्त का समाधान हो जाता है परन्तु वह योगसाधन के लिए किंचित् भी उपादेय नहीं है इस सम्बन्ध में आचार्य हरिहरानन्द आरण्य महाभारत के एक पात्र जयद्रथ का उदाहरण देते हैं । महाभारत में वर्णन है कि पाण्डवों से पराजय के पश्चात् प्रबल द्वेष के कारण जयद्रथका चित्त शिव में समाहित हो गया था । परन्तु क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त भूमियों में चित्त का समाधान विक्षेपों के कारण गौण हो जाता है । इस कारण से इन तीनों भूमियों में हुई चित्त की समाधि योगमार्ग में उपयोगी नहीं है ।

शेष दो चित्तभूमियों अर्थात् एकाग्र और निरुद्ध अवस्थाओं में हुई चित्त की समाधि क्रमशः सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योग का हेतु होती है । जब चित्त का अग्र अर्थात् अवलम्बन एक ही होता है तो उसे एकाग्र भूमि कहते हैं । आचार्य हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार अभीष्ट विषय में सदैव स्थित रहने वाली चित्त की अवस्था को एकाग्रभूमि कहते हैं । अभीष्ट विषय के सम्बन्ध में आचार्य का कथन है कि पदार्थ के सत्य ज्ञान को चित्त में अवधारण करना ही प्रत्येक प्राणी को अभीष्ट होता है । एकाग्रभूमि में चित्त की समाधि होने पर ही सम्प्रज्ञात योग होता है । एकाग्र भूमि में स्थित चित्त पारमार्थिक अर्थात् परम सत्य का ज्ञान करता है ।

चित्त के एकाग्र होने पर पदार्थ का सम्यक् ज्ञान होता है । इसके परिणाम-स्वरूप अज्ञानादि क्लेश क्षीण हो जाते हैं । तत्पश्चात् क्लेशमूलक कर्मों से क्षुब्ध दूर हो जाता है और इस कारण कर्म के बन्धन भी शिथिल हो जाते हैं सम्प्रज्ञात समाधि का अंतिम कार्य चित्त को निरोध की ओर अभिमुख करना है । सभी वृत्तियों का राहित्य भी निरोध है ।

आरण्य के अनुसार एकाग्र भूमि में चित्त का सत्पदार्थविषयक जो ज्ञान है, वही संप्रज्ञान कहलाता है । इस प्रकार के सम्प्रज्ञान से युक्त योग ही सम्प्रज्ञात योग कहलाता है । ऐसी स्थिति में गृहीता, ग्राह्य और ग्रहण एकाकार होकर प्रतिभासित होते हैं[1]। द्विविध योग में से एक उपर्युक्त सम्प्रज्ञात योग है । दूसरा प्रकार असम्प्रज्ञात का है असम्प्रज्ञात योग का लक्षण करते हुए आचार्य कहते हैं कि सम्प्रज्ञात योग की सिद्धि होने पर उस सम्यक् ज्ञान का भी निरोध कर लिया जाता है । फलस्वरूप जब सभी वृत्तियों का अर्थात् सात्विक वृत्ति का भी निरोध अथवा राहित्य हो जाता है तब वह असम्प्रज्ञात योग की अवस्था होती है[2]।

योग शब्द का विशद विवेचन करते हुए योगसूत्रकार पतंजलि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इस सूत्र की रचना करते हैं । "योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः" इस सूत्र में सर्व शब्द का उल्लेख न करने से दोनों प्रकार के अर्थात् सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योग इसके अन्तर्गत आ जाते हैं । कारण यह है कि

1- एकाग्रभूमिकस्य चेतसः तत्त्वविषयिणी प्रज्ञा सम्प्रज्ञानम्, तदा गृहीतृग्रहणग्राह्येषु, तत्स्थतदंजनता भवति, तादृश सम्प्रज्ञानवान् योगःसम्प्रज्ञात इत्यर्थःभास्वती, पृ. 9

2- सम्प्रज्ञातसिद्धौ सम्प्रज्ञानस्यापि निरोधे चः सर्ववृत्तिनिरोधः स सम्प्रज्ञातो योग इति । भास्वती पृ. 10

सर्व शब्द के प्रयोग करने से इस सूत्र में अव्याप्ति दोष आ जाता है । अतः इस स्थिति में सम्प्रज्ञात योग योग की कोटि में न आपाता क्योंकि सम्प्रज्ञात योग में सब वृत्तियों का निरोध नहीं होता है । इसमें केवल राजस और तामस वृत्तियों का ही निरोध होता है । तत्त्वज्ञानरूपी और प्रकाशशील स्वभाव वाली सात्त्विक वृत्ति सम्प्रज्ञात योग में प्रकृष्टरूपेण उदीयमान रहती है । अतः "सर्व" शब्द का प्रयोग न करना यहाँ विशेषमहत्व रखता है ।

चित्तवृत्तियों का निरोध ही सर्वश्रेष्ठ मानसिक बल है इसीलिए कहा भी गया है "नास्ति योग सम बलम्" । चित्तवृत्तियों के निरोध को समझने के लिए यह आवश्यक है कि चित्त, वृत्ति एवं निरोध सभी का पृथक्-पृथक् विवेचन कर लिया जाए । विज्ञानभिक्षु के अनुसार चित्त शब्द का अर्थ अन्तःकरण सामान्य है[1]। आचार्य वाचस्पति मिश्र भी चित्त का अर्थ बुद्धि अथवा अन्तःकरण ही स्वीकार करते हैं[2]। अन्तःकरण के मुख्यतः तीन भेद सांख्ययोग में स्वीकृत हैं,— मन, बुद्धि और अहंकार । इन तीनों का सम्मिलित नाम अन्तःकरण है और अन्तःकरण का ही प्रयोग चित्त के रूप में किया जाता है । अतः यह स्पष्ट है कि चित्त का सामान्य अर्थ अन्तः करण ही है ।

वृत्ति का अर्थ है चित्त की स्थिति । अर्थात् चित्त जिस जिस स्थिति में रहता है उसको चित्त की वृत्ति कहा जाता है । "वर्तन्तेऽनयो इति वृत्तिः" चित्त प्रतिक्षण किसी न किसी स्थिति में परिणत होता रहता है । अतः

1- चित्तमन्तःकरण सामान्यम् । यो. वा. वृ. 12.

2- चित्तशब्देन अन्तःकरणं बुद्धिमुपलक्षयति । सांख्य सू. पृ. 7

नहि कूटस्थनित्या चितिशक्तिनू परिणामिनी ज्ञानधर्मा भवितुमर्हतीति त. वै. पृ. 7

चित्त की वृत्तियाँ भी असंख्य होती हैं । परन्तु सुविधा के लिए त्रिविध गुणों के आधार पर उनके भी तीन भेद किये गये हैं जो कि क्रमशः सात्त्विक वृत्ति, राजस वृत्ति एवं तामस वृत्ति के नाम से प्रसिद्ध हैं । "चित्त" एवं "वृत्ति" के अर्थ का स्पष्टीकरण हो जाने के पश्चात् निरोध शब्द का विचार करना चाहिए । "निरोध" का अर्थ वृत्तियों का सर्वथा अभाव नहीं है वरन् वृत्तियों का चित्त में लीन हो जाना ही निरोध है। निरोधावस्था में वृत्तियाँ संस्कारमात्र के रूप में चित्त में विद्यमान रहती हैं और कैवल्य लाभ होने पर सभी संस्कारों का विलय हो जाता है तथा चित्त अपने कारण प्रधान में विलीन हो जाताहै और पुनः उसका आवर्तन नहीं होता है । चित्त का अपने कारण प्रधान में विलय ही योग दर्शन का अन्तिम लक्ष्य है ।

सम्प्रज्ञात समाधि में सत्वगुण का प्रकर्ष होता है । असम्प्रज्ञात योग के पूर्व सम्प्रज्ञात योग की सिद्धि परमावश्यक है । सात्त्विक गुण के प्रकर्ष के कारण विवेकख्याति अर्थात् पुरूष और प्रकृति का भेदज्ञान होता है । चिति-शक्ति अर्थात् पुरूष अपरिणामी, शुद्ध, अनन्त, अप्रतिसंक्रम अर्थात् निष्क्रिय एवं निर्लिप्त तथा दर्शित विषय अर्थात् स्वप्रकाशशक्ति है । तात्पर्य यह है कि सभी विषय बुद्धि के द्वारा इसके निकट दर्शित होते रहते हैं । परन्तु विवेकख्याति इसके ठीक विपरीत है । यह सत्वगुणात्मक है और पुरूष निर्गुण। अतः इस विवेकख्याति के दोषों को देखते हुए चित्त इससे भी विरक्त हो जाता है । इस अवस्था में चित्त संस्काररूप अवस्था में स्थित हो जाता है अर्थात् सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है ।

जब विवेकख्याति में सम्यक् ज्ञान का लाभ करके तथा उससे भी विरक्त होकर उसका भी निरोध करके जब ज्ञानशून्य (प्रत्ययहीना) निरोधावस्था की प्राप्ति होती है तब वही असम्प्रज्ञात योग है । इसमें ध्येय विषय बीज का

सर्वथा अभाव होने के कारण निरोध को निर्बीज समाधि भी कहते हैं[1]।

1- सम्प्रज्ञानं लब्ध्वा तदपि निरुध्य यदा प्रत्ययहीना निरुद्धावस्था-
अधिगम्यते तदा सोऽसम्प्रज्ञातयोग इति, ध्येयविषयत्वस्य बीजस्याभावात
निरोधः समाधिनिर्बीज इत्युच्यते । भा. पृ. 17.

क्लेशसहितः कर्माशयो जात्यायुर्भोगा बीजं तस्मान्निर्गत इति निर्बीजः
अस्येह यो निजप्रतिपादकस्पर्शो तंत्रामादर्शयति--"न तत्र" इति ।
उपसंहरति--"द्विविधः स योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति" इति । भा. पृ. 17

* * *

चित्त की भूमियाँ

योग का अर्थ है समाधि । और समाधि चित्त का सार्वभौम धर्म है । सार्वभौम का अर्थ है सभी भूमियों में रहने वाला । चित्त की स्वाभाविक अवस्थाओं को ही चित्त की भूमियाँ कहते हैं । आचार्य के मतानुसार संस्कारवश जिस अवस्था में चित्त प्रायः स्थित रहता है, वही चित्त की भूमि कहलाती है[1]। ये चित्तभूमियाँ क्षिप्त, मूढ़, एकाग्र एवं निरुद्ध इन भेदों से पाँच प्रकार की हैं[2]। इन पाँच भूमियों में से अंतिम दो अर्थात् एकाग्र एवं निरुद्ध भूमियों में किया गया वृत्तिनिरोध योगपक्ष में आता है अर्थात् योगसिद्धि में समर्थ होता है । अन्य तीन भूमियों में विक्षेप के कारण वृत्तिनिरोध हो ही नहीं पाता है ।

रजोगुण के आधिक्य के कारण जब चित्त अत्यन्त अस्थिर होकर एक विषय से दूसरे विषय की ओर भागता है, तब वह क्षिप्त भूमि है । इस भूमि में प्रथम तो चित्त में तत्त्वज्ञान को जानने और समझने की इच्छा ही नहीं होती और यदि जिज्ञासा हुई भी तो बौद्धिक नहीं होती है[3]।

चित्त की दूसरी भूमि अर्थात् मूढ़ भूमि में चित्त इन्द्रियराग अथवा आसक्ति के कारण किसी विषय में मोहित हो जाता है[4] । इस कारण वह चिंतन एवं मनन के योग्य नहीं रह पाता है । विज्ञानभिक्षु ने मूढ़भूमि

1- चित्तभूमयः चित्तस्य सहजा अवस्थाः, संस्कारवशाद् यस्यामवस्थायां चित्तं प्रायशः सन्तिष्ठते सैव चित्तभूमिः । भा0पृ0 8.

2- क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः यो. भा. सू. 1-1
रजसा विक्षेपेणैव वृत्तिमत्त । यो0वा0 8

3- तत्र यदा संस्कारप्रत्ययात्मकं चित्तं तत्त्वज्ञानजिज्ञासाहीनं सर्वथा स्थिरं प्रभ्रमति तदाऽस्य क्षिप्ताभूमिः भा. पृ0 8.

4- तादृश्यामपि च प्रबलरागादिमोहवशस्य चित्तस्य या मूढावस्था सा मूढा भूमिः भा. पृ0 8.

को मूर्च्छादि व्यापारवान् स्थिति कहा है जो कि अधिक युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि भाष्यकार को यह अर्थ अभीष्ट नहीं है एवं संदर्भ के अनुसार भी चित्त की साधारण अवस्थाओं का वर्णन किया जा रहा है। मूर्च्छा सदृश असाधारण स्थिति का नहीं। अतः आचार्य आरण्य का यह मत कि विषय विशेष पर मुग्ध हो जाने के कारण चित्त में अन्य तत्त्व-चिंतन सम्बन्धी विचार आ ही नहीं पाते, अधिक समीचीन प्रतीत होता है। व्यावहारिक जगत में भी हम देखते हैं कि कुछ लोग स्त्री अथवा सम्पत्ति पर प्रबल मोह के वशीभूत होकर समाहित अथवा ध्यानासक्त हो जाते हैं। यही मूढ़ चित्त का समाहित होने का उदाहरण है। यह भूमि क्षिप्त भूमि के पश्चात् इसलिए रखी गयी है क्योंकि इसमें ऐन्द्रिक एवं ऐहिक विषय पर ही सही, चित्त मोहवश समाहित तो होता है, परन्तु क्षिप्त भूमि में तो विक्षेपों एवं राजसाधिक्य के कारण चित्त समाहित ही नहीं हो पाता है। चित्त की तीसरी भूमि विक्षिप्त भूमि है[1]। यह क्षिप्त भूमि से अधिक अच्छी है। सत्त्वगुण के प्राबल्य के कारण चित्त कभी-कभी स्थिर हो जाता है परन्तु बीच में ही राजस गुणों के उदय से चंचल हो जाता है। इस भूमि में चित्त को जब वह स्थिर होता है तब तत्त्वज्ञान के प्रति जिज्ञासा होती है एवं समझने की सामर्थ्य भी होती है[2]।

विक्षिप्तभूमि में भी समाधिलाभ होता है परन्तु वह नितांत अस्थायी होता है।

1- क्षिप्ताद् विशिष्टं विक्षिप्तं, सत्त्वाधिक्येन समाहितमपि चित्तं रजोमात्रयाऽन्तरा विषयान्तरवृत्तिमत् यो. भा. पृ. 8

2- क्षिप्तादि विशिष्टं विक्षिप्तभूमिकंचित्तम्, तत्र कादाचित्कं चित्त समाधानं, समाधान- चिकीर्षा च तत्त्वज्ञानसमाधानञ्च दृश्यते। भा. पृ. 8

"एकाग्र" यह चित्त की भूमि है । अभीष्ट विषय में सदैव लगी रहने वाली चित्त की अवस्था ही एकाग्र भूमि कहलाती है[1]। इस भूमि में सात्विक वृत्ति का प्राधान्य रहता है । राजस एवं तामस वृत्तियों का सर्वथा तिरोभाव होने के कारण चित्त को विक्षेप एवं मोह नहीं होता है । फलस्वरूप चित्त एक ही अभीष्ट विषय में ध्यानमग्न रहता है । एक ही विषय की ओर उग्र अथवा उन्मुख वृत्ति वाली भूमि ही एकाग्र है । एकाग्र चित्त को और अधिक सुस्पष्ट करने के लिए आचार्य कहते हैं कि एक वृत्ति बनने के बाद दूसरी वृत्ति भी ठीक वैसी ही बने और उसी प्रकार की समान वृत्तियों का क्रम निरन्तर चलता रहे तो वह एकाग्र चित्त कहलाता है ।

इसी एकाग्र भूमि में सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है । योगमार्ग पर आरूढ़ होने के लिए यह प्रथम आवश्यक सोपान है अतएव इस भूमि का अपना विशेष महत्व है । इस भूमि में सात्विक वृत्ति पूर्णरूपेण उद्बुद्ध रहती है । इस कारण पदार्थ का यथार्थ ज्ञान योगियों को होता रहता है । यथार्थज्ञान से अविद्या का नाश होता है । फलस्वरूप क्लेश जो कि अविद्यामूलक हैं, क्षीण हो जाते हैं । कर्मबन्धन शिथिल हो जाते हैं[2]। एकाग्रभूमिक सम्प्रज्ञात समाधि का सबसे बड़ा लाभ यह है कि यह असम्प्रज्ञात समाधि को अभिमुख अर्थात समीप लाती है ।

चित्त की सर्वोच्च स्थिति अथवा पांचवीं भूमि "निरुद्ध" है[3]। एकाग्रभूमि में केवल राजस एवं तामस वृत्तियां ही निरुद्ध होती हैं किन्तु निरुद्ध भूमि में सात्विक वृत्ति का भी निरोध हो जाता है अर्थात तीनों वृत्तियों का पूर्ण निरोध ही निरुद्ध भूमि है[4]।

1- अभीष्टविषये सदैव स्थितिशीला चित्तावस्था एकाग्रभूमिः भा. पृ. 8
2- ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।श्रीमद् भगवद्गीता- 4/36
3- निरुद्धं च चिरध्वंसकलवृत्तिकं संस्कार मात्रशेषमित्यर्थः यो. क. पृ. 8
4- सर्ववृत्तिनिरोधरूपा या चित्तावस्था निरुद्धभूमिः भा. पृ. 8

चित्तवृत्तियाँ

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः योगसूत्र 2 चित्तस्यवृत्तयः इति चित्त वृत्तयः तासाम् निरोधः इति त्योक्तः योग चित्तवृत्तियों का निरोध है । अतः योग शब्द को भलीभाँति समझने के लिए चित्त की इन वृत्तियों से पूर्ण परिचय होना आवश्यक है । चित्त जिस जिस स्थिति या रूप में रहता है वे स्थितियाँ चित्त की वृत्तियाँ हैं । वर्ततेअनयेति वृत्ति वृत + क्तिन भेद । चित्त अनेक रूपों में परिवर्तित होता रहता है । इसलिए चित्त की असंख्य वृत्तियाँ होती हैं लेकिन सत्वादिगुणों के प्राधान्य के अनुसार उनका विभाजन तीन मुख्य श्रेणियों में किया जा सकता है । आगे चलकर इन वृत्तियों का विभाजन ज्ञान के रूपभेद के आधार पर पाँच प्रकारों में किया जाता है । अविद्या अस्मितादि क्लेशों से उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ क्लिष्टा होती हैं । अज्ञानजन्य ये वृत्तियाँ चित्त में क्लेशयुक्त संस्कारों को जन्म देती हैं । अतः इसी कारण इन्हें क्लिष्टा वृत्तियाँ कहा जाता है । ये क्लिष्टा वृत्तियाँ कर्म संस्कारों के समूह को उत्पन्न करती हैं[1]। इन क्लिष्टा वृत्तियों के ठीक विपरीत विवेकख्याति विषयक वृत्तियाँ अक्लिष्टा होती हैं । विवेक से चित्त की निवृत्ति होती है अर्थात विवेकज्ञान से चित्त चरिताधिकार हो जाता है । इस प्रकार की वृत्तियाँ गुणों के अधिकार की विरोधिनी होती हैं अर्थात गुणों के कार्य को रोकती हैं । सत्वादि गुणों की प्रवृत्ति ही क्लेश को उत्पन्न करती है । अतएव गुणों की निवर्तिका विवेकख्याति विषयक

1- ये विपर्ययस्तुप्रत्ययाः क्लिश्नन्ति ते क्लेशाः, तन्मयास्तन्मूलाश्च वृत्तयः क्लिष्टा, ताश्च कर्मसंस्कारस्य क्षेत्रीभूतास्तद्विपरीता अक्लिष्टावृत्तयो विवेकख्यातिविषयाः । पा० पृ० 24.

वृत्तियाँ अक्लिष्टा वृत्तियाँ कही जाती हैं । विवेक के द्वारा अविद्या के नष्ट हो जाने पर विवेकख्याति रूप जिस वृत्ति का उदय होता है वही मुख्य अक्लिष्टा वृत्ति है । इसी प्रकार विवेकख्यातिरूपी मुख्य अक्लिष्टा वृत्ति की सिद्धि होने में जो संपादक अथवा सहायक वृत्तियाँ हैं उन्हें गौण अक्लिष्टा वृत्ति कहा जाता है ।

क्लिष्टा और अक्लिष्टा वृत्तियाँ परस्पर सर्वथा विरोधी होती हुई भी कभी-कभी एक दूसरे के साथ उत्पन्न हो जाती हैं । किसी भी मनुष्य की सब वृत्तियाँ पूर्णतया क्लिष्ट अथवा पूर्णतया अक्लिष्ट नहीं होती हैं । क्लिष्ट वृत्तियों के छिद्रों अर्थात् विरोधी स्थलों में अक्लिष्टा वृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । अभ्यास एवं वैराग्य ही क्लिष्ट छिद्र हैं । अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा क्षीण किये हुए क्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह में परमार्थ-विषयक अक्लिष्टा वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं ।

वाचस्पति मिश्र भी इसी तथ्य को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अभ्यास वैराग्य के फलस्वरूप उत्पन्न अक्लिष्ट वृत्तियाँ क्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह में पड़ी रहने पर भी वस्तुतः अक्लिष्ट ही रहती हैं, अक्लिष्टा वृत्तियों के विरोधी स्थलों में भी क्लिष्टा वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं अक्लिष्टा वृत्तियों के छिद्र विवेकादि हैं । ऐसा कहा जाता है कि संस्कारवश एक वृत्ति के छिद्र में अन्य अर्थात् दूसरी वृत्ति का उदय हो जाता है[1]।

इन क्लिष्टा एवं अक्लिष्टा वृत्तियों से तथा तद्विषयक क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट संस्कार उत्पन्न होते हैं क्योंकि वृत्तियों की अपरिदृष्ट अवस्था संस्कार है और संस्कारों का उद्बुद्ध अथवा प्रकट होना ही वृत्ति है[2]। वृत्तियों से

1- अभ्यास वैराग्याभ्यां विच्छिन्ने क्लेशप्रवाहे परमार्थविषया वृत्तयो जायन्त इत्यर्थः ... भा. पृ. 24

2- आगमानुमानाचार्योपदेशपरिशीलनलब्धजन्मनी अभ्यासवैराग्ये क्लिष्टाछिद्रमन्तरे पतिताः स्वयमक्लिष्टा एव क्लिष्टप्रवाहपतिताः, न खलु शालग्रामे किरातशतसंकीर्णेऽप्रतिवसन्नपि ब्राह्मणः किरातो भवति । त. वै. पृ0 25-26

संस्कार एवं पुनः संस्कारों से वृत्तियां बनती रहती हैं । इस प्रकार से वृत्तियों एवं संस्कारों का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है । वृत्तिसंस्कार-चक्रात्मक यह चित्त जब वृत्ताधिकार अर्थात् वह चित्त जिसके कार्य समाप्त हो चुके हैं, हो जाता है तब वह धर्ममेघ समाधि में अपने स्वरूप में (सत्त्वमात्मकल्पेन) स्थित रहता है अथवा प्रकृति में विलीन होकर कैवल्य को प्राप्त कर लेता है[1]।

वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञान भिक्षु दोनों के अनुसार "आत्मकल्पेन व्यवतिष्ठते" चित्त की इस अवस्था को निरोधावस्था अथवा संस्कारशेषावस्था माना है ।

आचार्य हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार यह चित्त की धर्ममेघ समाधि की अवस्था है जिसमें चित्त अपने स्वरूप में स्थित रहता है एवं दूसरी पूर्ण निरोध की अवस्था है जिसमें चित्त का प्रकृति में लय हो जाता है और कैवल्य की प्राप्ति होती है । इस संदर्भ में भास्वतीकार का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि भाष्यकार को भी इन दो भिन्न अवस्थाओं का उल्लेख ही अभिप्रेत है, न कि केवल एक ही निरुद्धावस्था का[2]।

प्रमाणादि पांचों प्रकार की चित्तवृत्तियां क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट दोनों प्रकार की होती हैं[3]। इस शंका का समाधान करते हुए कि किस

1- तदवस्थं निष्पन्नकृत्यं चित्तसत्त्वधर्ममेघध्याने सत्त्वमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते । भा. पृ. 26.

2- तदेवम्भूतं चित्तं अवसिताधिकारमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलयं वा गच्छतीति ।

3- प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः, इति पंचवृत्तयः क्लिष्टा भवन्ति, अक्लिष्टा वा भवन्ति, चित्तस्य प्रवृत्तिका निवृत्तिकास्वभावात्, यथा-रक्तं क्लिष्टं वा प्रमाणं क्लिष्टं, रागद्वेषनिवर्तकं प्रमाणमक्लिष्टम् । भा. पृ. 27.

प्रकार की प्रमाणादि वृत्ति क्लिष्ट एवं किस प्रकार की अक्लिष्ट है आचार्य प्रतिपादित करते हैं कि विवेकज्ञान के अनुकूल संपूर्ण प्रमाणादि ज्ञान अक्लिष्ट वृत्तियां हैं एवं उनमें विपरीत प्रमाण क्लिष्ट प्रमाण हैं । इसी प्रकार वैसे तो अस्मितादि क्लेशमूलक होने से क्लिष्टा वृत्तियां ही हैं परन्तु निर्माणचित्त[1] के ग्रहण के समय एवं विवेकज्ञान की साधिका अस्मितादि वृत्तियां अक्लिष्टा विपर्यय वृत्तियां हैं । विकल्प के सम्बन्ध में भी यही कहा जाता है कि जो वाक्य विवेक उत्पन्न करें, उन वाक्यों से उत्पन्न विकल्प वृत्ति अक्लिष्टा होती है एवं विपरीत अन्य विकल्पात्मक वृत्तियां क्लिष्ट होती हैं । विवेक एवं विवेकख्यातिजनक शास्त्रयुक्त आत्मभाव की स्मृति अक्लिष्टा वृत्ति होती है एवं इसके विपरीत अन्य लौकिक वस्तुओं से सम्बन्धित स्मृति क्लिष्टा वृत्ति होती है । विवेकज्ञान के अभ्यास एवं आत्मभाव की स्मृति के अभ्यास से क्षीण की गयी निद्रा अक्लिष्टा वृत्ति है । योगाभ्यास के लिए जितनी निद्रा स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है, वह निद्रा अक्लिष्टा है । इसके विपरीत जनसाधारण को साधारणतया होने वाली निद्रा क्लिष्टा वृत्ति है ।

इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि चित्त का स्वभाव प्रवृत्ति एवं निवृत्ति रूप है । अतः विवेकज्ञान की ओर प्रवृत्ति करने वाली सभी वृत्तियां अक्लिष्टा हैं एवं विवेकज्ञान से निवृत्ति की ओर ले जाने वाली समस्त वृत्तियां क्लिष्टा वृत्तियां हैं ।

प्रमाण — इन द्विविधा वृत्तियों का पांच प्रकार के भेद से वर्गीकरण करते हुए सर्वप्रथम प्रमाण वृत्ति को निरूपित कर सूत्रकार कहते हैं कि प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम यह तीन प्रमाण हैं । भाष्यकार ने प्रमाण को सुलभ समझ कर

1- निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् 4-4 यो. सूत्र ।

परिभाषित नहीं किया है परन्तु परवर्ती टीकाकारों यथा वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु ने प्रमाण का लक्षण करते हुए कहा है कि अज्ञात तत्त्व का पुरुष को होने वाला बोध ही "प्रमा" है एवं उस प्रमा का कारण "प्रमाण" नामक वृत्ति है[1]। आरण्य भी इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि विपर्यय के द्वारा बाधित न होने वाला तथा सत्पदार्थ की प्रमा का कारण ही "प्रमाण" है।

प्रत्यक्ष — जब इन्द्रियों का बाह्य वस्तुओं के साथ सम्पर्क होता है तब इन इन्द्रिय रूपी प्रणालिका के द्वारा बाह्य वस्तु के ज्ञान विषयक वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। यह वृत्तियाँ ही प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष विशेषतः प्रधान रूप से अवधारण करने वाली वृत्ति है। शब्दादि के द्वारा किया गया संकेत तथा जाति आदि बहुत से व्यक्तियों में समवेत मानसिक गुणवाचक (मानसोगुणवाचि पदार्थः) सामान्य है। प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तिपरक गुण विशेष होता है। आचार्य के अनुसार मूर्ति एवं व्यवधि (बाह्य विषय) ही विशेष पदार्थ होता है। जिन शब्दादि गुणों के आधार पर एक द्रव्य को दूसरे से पृथक किया जाता है, वही गुण उस पदार्थ की मूर्ति है। व्यवधि का अर्थ आकार होता है। यथा एक घट का जो रूप, रंग एवं आकारादि है, वही उसकी व्यवधि है। इस मूर्ति एवं व्यवधि रूप विशेष पदार्थ की अभिव्यक्ति एवं ज्ञान प्रत्यक्ष के बिना नहीं हो सकता है। आगम अथवा अनुमान के द्वारा किसी पदार्थ का सामान्य ज्ञान तो हो सकता है परन्तु विशेष ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण अपरिहार्य है। सामान्य पदार्थ शब्दादि संकेत से ज्ञात होता है जबकि विशेष पदार्थ शब्दादि संकेत के बिना भी ज्ञात

1- अधिगततत्त्वबोधः पौरुषेयो व्यवहारहेतुः प्रमा, तत्करणं प्रमाणम्।
त. वै. पृ. 27

हो सकता है[1]। प्रत्यक्ष में विशेष पदार्थ के अतिरिक्त सामान्य पदार्थ का भी ज्ञान होता है। इसीलिए "प्रधान" शब्द पर ज़ोर दिया गया है। अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा मुख्य रूप से पदार्थ के वस्तुगत गुणों का ही ग्रहण होता है तथा जाति सत्ता आदि सामान्य गुणों के ज्ञान का प्रत्यक्ष में गौण भाव रहता है[2]।

इस प्रमाण व्यापार का फल भी द्रव्य के समान होता है। इस पौरुषेय बोध के सम्बन्ध में आचार्य विज्ञानभिक्षु एवं वाचस्पति मिश्र के मत में स्पष्ट मतभेद प्रतीत होता है। इस संदर्भ में इस मतभेद का संक्षिप्त अवलोकन अप्रासंगिक नहीं होगा। वाचस्पति मिश्र के अनुसार पौरुषेय ज्ञान के लिए सर्वप्रथम जड़ बुद्धि चेतन पुरुष की छाया से चेतनवद् होता है। फलस्वरूप वह किसी पदार्थ को देख कर पदार्थाकाराकारित हो जाती है। जड़ बुद्धि को चेतन बनाने के लिए पुरुष का जो प्रतिबिम्ब बुद्धि में पहले से पड़ा रहता है, वही पुरुष प्रतिबिम्ब इस बुद्धिनिष्ठ ज्ञान का भोग करता है। यही पौरुषेय बोध है, इसको प्रमा कहते हैं। वाचस्पति मिश्र के सिद्धान्त के अनुसार केवल एक ही प्रतिबिम्ब बुद्धि का पुरुष पर पड़ता है। अतः इस मत को एक प्रतिबिम्बवाद कहते हैं[3]।

1- सामान्यपदार्थः शब्दादिसंकेतमात्रगम्यः विशेषस्तु शब्दादिसंकेतं विना अपि गम्यते। — भा. पृ. 28

2- प्रत्यक्षेण वास्तवगुणा एवं प्रधानतो गृह्यन्ते, जातिसत्तादिसामान्यगुण-प्रतिपत्तीनां तु अप्राधान्यमित्यर्थः। भा. पृ. 28.

3- बुद्धिदर्पण पुरुषप्रतिबिम्बसंक्रान्तिरेव बुद्धिप्रतिसंवेदित्वं पुंसः। तथा च दृशिच्छायापन्नया बुद्ध्या संसृष्टाः शब्दादयोभवन्ति दृश्या इत्यर्थः। त. वै. पृ. 214.

प्रमा की प्रक्रिया के लिए विज्ञानभिक्षु के अनुसार सबसे पहले जड़ बुद्धि पुरूष की छायावृत्ति से चेतनवत हो जाती है तब वह पदार्थ का प्रत्यक्ष करके पदार्थाकाराकारित हो जाती है । यहां तक कि प्रक्रिया में मिश्र एवं भिक्षु में ऐक्य है । भिक्षु के अनुसार बुद्धि के पदार्थाकाराकारित होने के पश्चात इस बुद्धिस्थ ज्ञान का पुरूष पर प्रतिबिम्ब पड़ता है । इस द्वितीय अर्थात बुद्धिस्थ ज्ञानके पुरूष पर पड़े हुए प्रतिबिम्ब के फलस्वरूप ही पौरूषेय बोध होता है । जो एक प्रमा है । विज्ञानभिक्षु के अनुसार दो प्रतिबिम्ब अर्थात पहले बुद्धि पर पुरूष का एवं फिर पुरूष पर बुद्धि का पड़ते हैं । अतः यह मत द्विप्रतिबिम्बवाद के नाम से प्रसिद्ध है[1]।

अनुमान — सामान्य का प्रधानतया अवधारण करने वाली वृत्ति अनुमान प्रमाण है । पक्ष में रहने वाला एवं विपक्ष में न रहने वाला जो सम्बन्ध होता है उसे हेतु अथवा लिंग कहते हैं । विज्ञासित एवं हेतु के द्वारा ज्ञात होने वाला पदार्थ अनुमेय होता है । सपक्षों में अनुवृत्त एवं विपक्षों में व्यावृत्त हेतु अथवा लिंग विषयक पदार्थों के सामान्य धर्म का ही प्रधानतया अवधारण कराने वाली वृत्ति अनुमान प्रमाण[2] है । अन्वयव्याप्ति के आधार पर अनुमान प्रमाण का उदाहरण है । "देशान्तरप्राप्तेर्गतिमत्चन्द्रतारकं चैत्रवद्" अर्थात जहां जहां देशान्तर प्राप्ति है वहाँ वहाँ गतिमत्ता है । उदाहरणार्थ चैत्र । अतः चन्द्र एवं तारक भी गतिशील हैं । क्योंकि उनकी भी चैत्र के

1- चेन्नि तावद् बुद्धिप्रतिबिम्बमवश्यं स्वीकार्यम्, अन्यथा कूटस्थनित्यविभुचैतन्यस्य सर्वसंबन्धात्सदैव सर्वं वस्तु सर्वं चिन्तितं न हि सूर्यसंबन्धे सति घटःप्रकाशो इष्ट इति. यथा च चिति बुद्धेः प्रतिबिम्बमर्थं बुद्धावपि चित्प्रतिबिम्बं स्वीकार्यमन्यथा चैतन्यस्य भानानुपपत्तेः यो. वा. पृ. 22.

2- सम्बन्धस्त्रिधा हेतु निबन्धना या वृत्तिस्तदनुमानं प्रमाणम्, भा. पृ. 31.

समान देशान्तर प्राप्ति होती है। व्यतिरेकव्याप्ति के द्वारा जहाँ गतिमत्ता नहीं होती वहाँ देशान्तर प्राप्ति भी नहीं होती। जैसे विन्ध्य पर्वत। इस प्रकार से अन्वय एवं व्यतिरेक व्याप्ति के आधार पर किसी पदार्थ का अनुमान किया जाता है।

आगम — ऐसे ऋषि योगी जिनके ज्ञान के विषय में कोई विवाद नहीं होता है, वे आप्त कहे जाते हैं। ऐसे आप्तजनों के द्वारा प्रत्यक्षीकृत अथवा अनुमित पदार्थ के विषय में श्रवण के द्वारा श्रोता के चित्त में जो वृत्ति बनती है उसे आगम-प्रमाण कहते हैं। आप्तजनों के श्रवण से उनका निश्चय ज्ञान श्रोता के मन में भी स्वसदृश निश्चय ज्ञान कराता है, यही आगम प्रमाण है। वेदादि शास्त्र आप्तजनों के द्वारा प्रत्यक्ष किये गये हैं। किन्तु वे आगम नहीं हैं क्योंकि आचार्य के अनुसार आगम के लिए वक्ता एवं श्रोता दोनों का अस्तित्व आवश्यक है[1]।

इन्द्रियादि दोष के कारण जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण दूषित होता है एवं हेत्वाभासादि के कारण अनुमान प्रमाण में दोष रह जाता है, उसी प्रकार कभी-कभी आगम प्रमाण में भी कोई त्रुटि रह जाना संभव है। यदि आप्त-पुरुष का ज्ञान असंदिग्ध हो तो आगम भी दूषित हो जाता है।

यहाँ पर आगम के "मूलवक्ता" के लिए वाचस्पति मिश्र ने ईश्वर से तात्पर्य निश्चित किया है। परन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि ईश्वर को तो सभी विषय प्रत्यक्ष हैं, अनुमान का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ईश्वर को ही आगम का एकमात्र स्रोत मानने पर अन्य आगम का अस्तित्व नहीं रह सकेगा। आगम का स्रोत ईश्वर को मानने के विषय में उपर्युक्त त्रुटियाँ होने के कारण आचार्य हरिहरानन्द आरण्य ने आप्त वचनों को ही आगम वृत्ति के प्रति उत्तरदायी माना है। आचार्य का मत ही अधिक युक्तिसंगत है।

1- "वक्ता श्रोता चास्यागमप्रमाणस्य द्वे भावने, तस्मात् पाठअनिश्चयो नागमप्रमाणम्" भा. पृ. 32

विपर्यय— प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित होने वाला मिथ्या ज्ञान ही विपर्यय[1] है। यह विपर्यय अतद्रूपप्रतिष्ठ अर्थात् वस्तु का जो वास्तविक यथार्थ रूप है उससे भिन्न का ज्ञान कराने वाला होता है। इस भ्रान्त ज्ञान को प्रमाण निरुद्ध कर देता है। तत्त्ववैशारदीकार के अनुसार विपर्यय के अन्तर्गत संशय भी आजाता है[2]। क्योंकि संशय में भी मिथ्या ज्ञानही होता है।

विपर्यय वृत्ति का मूल कारण अविद्या ही है। यह अविद्या पंच पर्वात्मक— अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष एवं अभिनिवेश होती है। यही पाँच पर्व क्लेश भी कहलाते हैं। विपर्यय वृत्ति की कारणीभूत अविद्यादि चित्त के मल हैं। अविद्यादि पंचक्लेशों को विष्णुपुराण में तमः, मोह, महामोह, तामिस्र एवं अन्धतामिस्र इन नामों से अभिहित किया गया है।

"तमो मोहो महामोहस्तामिस्रह्यन्धसंज्ञितः।
अविद्या पंचपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥" 1/5/5

योगिजन अविद्या रूप विपर्यय को कैवल्य में बाधक जानकर इनका निरोध करते हैं।

विकल्प — विकल्पवृत्ति शब्दज्ञान के अनुपाती और वस्तुशून्य अर्थात् अवास्तव पदार्थ (पद का अर्थमात्र) विषयक अथवा व्यवहार्य इस प्रकार का ज्ञान है। यह विकल्पवृत्ति[3] न प्रमाण में अन्तर्मुख होती है और न ही

1- विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्, यो.सू. पृ. 33, 1-8

2- संशयोऽपि संगृहीतः त. वै. पृ. 33

3- अवस्तुवाचक शब्दज्ञानस्यानुजातस्तज्ज्ञाननिबन्धनो वस्तुशून्यो वास्तवार्थशून्यो विकल्पः भा. पृ. 36

ही विपर्यय में । विकल्पवृत्ति शाब्दज्ञानजन्य होती है तथा किसी वस्तु का बोध नहीं कराती अर्थात निर्वस्तुक होती है[1] । विकल्पवृत्ति की प्रमाण एवं विपर्यय से भिन्नता प्रदर्शित करते हुए आरण्य स्पष्टतः कहते हैं कि प्रमाण का विषय वस्तुतः यथार्थ होता है तथा मिथ्या ज्ञान सिद्ध होने के कारण विपर्यय का व्यवहार नहीं किया जाता है । परन्तु विकल्प वस्तुशून्य होते हुए भी लोकव्यवहार में व्यवहृत होता है । जैसे "चैतन्यम् पुरुषस्य स्वरूपम्" । इस कथन से विशेषण विशेष्य भाव का बोध होता है । परन्तु यहाँ पर यह सम्बन्ध अर्थात विशेषण विशेष्य भाव स्थापित नहीं किया जा सकता क्योंकि जब चैतन्य पुरुष का स्वरूप ही है अर्थात चैतन्य और पुरुष अभिन्न हैं तो पुरुष को चैतन्य नामक गुण से किस प्रकार विशेषित किया जा सकता है । परन्तु फिर भी इस कथन का व्यवहार होता ही है । इसी प्रकार "राहोः शिरः" इस वाक्य के द्वारा भी विकल्पवृत्ति ही बनती है, क्योंकि राहु और शिर दोनों एक ही हैं क्योंकि शिर ही का राहु नाम है ।

आचार्य हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार विकल्पवृत्ति को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है. 1- वस्तु विकल्प, 2- क्रिया विकल्प, 3- अभाव विकल्प । प्रथम वस्तु विकल्प का उदाहरण "चैतन्यम् पुरुषस्य स्वरूपम्" एवं "राहोः शिरः" हैं । दूसरे प्रकार के विकल्प अर्थात क्रिया विकल्प का उदाहरण है "बाणस्तिष्ठति" । इस विकल्प में अकर्ता व्यवहार में कर्ता के समान प्रतीत होता है । गतिनिवृत्ति स्वयं एक क्रिया है जो बाण में न होती हुई भी व्यवहार में कही जा रही है अर्थात बाण में वस्तुतः गतिनिवृत्ति के अनुकूल कर्तृत्व नहीं है फिर भी बाण गतिनिवृत्ति क्रिया के कर्तृत्व में व्यवहृत होता है । इसे क्रिया विकल्प कहते हैं ।

1- शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः । यो.सू. 1-9.

तीसरे प्रकार अर्थात् अभाव विकल्प का उदाहरण है— "अनुत्पत्ति धर्मा पुरुष"[1] इस कथन से पुरुष में उत्पत्ति धर्म का अभाव है । इस प्रकार की विकल्प वृत्ति बनती ह परन्तु यह सत्य नहीं है[2] । क्योंकि अभाव नामक कोई धर्म पुरुष में है ही नहीं । इसी कोटि का एक अन्य उदाहरण "प्रतिषिद्धवस्तुधर्मा निष्क्रियः पुरुषः" का भी है । इस वाक्य के द्वारा पुरुष सामान्य विशेषण से रहित एवं क्रियाहीन इस प्रकार प्रतीत होता है । पुरुष का यह विशेषण भी वैकल्पिक ही है क्योंकि सांख्य में "अभाव" नामककोई पदार्थ अस्तित्व ही नहीं रखता जो कि पुरुष का विशेषण बन सके ।

विकल्प वृत्ति के स्वरूप प्रतिपादन में सभी व्याख्याकारों ने प्रायः समान उदाहरण दिये हैं परन्तु विकल्पवृत्ति की वस्तुशून्य विधियों की भिन्न-भिन्न प्रकृतियों का गूढ़ आलोचन कर इस वृत्ति को तीन भागों — 1- वस्तु, 2- क्रिया, एवं 3- अभाव — में विभाजित करने का श्रेय एकमात्र आरण्य को ही है । अन्य व्याख्याकारों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है ।

निद्रा — जाग्रत तथा स्वाप्न वृत्तियों के अभाव के प्रत्ययस्वरूप (हेतुभूत) तमस् को आलम्बन बनाने वाली वृत्ति निद्रा कही जाती है[4] । निद्रा के

1- न च पुरुषान्वयी पुरुषगतः कश्चिद् धर्मोऽवगम्यते तस्मात् सोऽनुत्पत्तिपदवाच्यो धर्मो विकल्पितस्तेन = विकल्पेन चैतादृशवाक्यस्य व्यवहारोऽस्ति। भा. पृ. 37-

2- पुरुषलक्षणो धर्मिणामभावमात्रमेव विवक्षितं न कश्चिद् वास्तवो धर्मः, तस्मादेतद्वाक्यार्थो वैकल्पिकः । भा. पृ. 37.

3- न खलु सांख्यस्यापि राद्धान्तेऽभावो नाम कश्चिदस्ति वस्तुधर्मो येन पुरुषो विशेष्येतेत्यर्थः , त. वै. पृ. 37.

4- अभाव प्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा । 1-10.

वृत्तित्व के सम्बन्ध में कुछ दार्शनिकों में मतभेद है अतः इस कारण सूत्रकार ने अनुवृत्ति से प्राप्त होते हुए भी पृथक्रूपेण निद्रा को सूचक करते हुए "वृत्ति" शब्द को जोड़ दिया है[1]। यह निद्रा भी प्रमाणादि के सदृश एक वृत्ति ही है एवं इसका निरोध भी उतना ही आवश्यक एवं अपरिहार्य है जितना कि अन्य वृत्तियों का।

निद्रा के उपरान्त उसका स्मरणात्मक ज्ञान होता है और ज्ञान-रूप होने के कारण ही निद्रा एक वृत्ति है। सो कर उठने पर प्राणी को "मैं सुख से सोया, मेरा मन प्रसन्न है", अथवा "मैं दुःख से सोया, मेरा मन अकर्मण्य है।" आदि प्रकार का स्मरण होता है। यह स्मरण किसी अनुभव के आधार पर ही होता है और इस अनुभव की आधारभूत तमोप्रधान वृत्ति ही निद्रा है। सात्विक गुण के अभिभूत होने के कारण निद्रा रजोरूपा अथवा तमगुण प्रधाना होती है[2]।

निद्रा तामस वृत्ति है[3]। जागृत और स्वप्न की तुलना में तमोगुण के प्राबल्य के कारण निद्रा में स्थैर्य होता है। परन्तु यह स्थिरता समाधि की स्थिरता से सर्वथा विपरीत है। आरण्य निद्रा एवं समाधि के भेद को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि निद्रा स्वेच्छा पर निर्भर नहीं रहती है जबकि समाधि योगियों की इच्छा पर निर्भर है। इसी प्रकार निद्रा तमस प्रधान होने के कारण पंकयुक्त (गन्दे) जल के समान है। जबकि समाधि सत्वगुण प्रधान होने के कारण स्वच्छ निर्मल जल सदृश है। साथ ही

1- निद्रायास्तु वृत्तित्वे परीक्षका मारीत विप्रतिपत्तिरिति वृत्तित्वं विधेयं न च प्रकृत्युपादक विधानाच कल्पत इति पुनर्वृत्तिग्रहणम्। तत्वै॰ पृ॰ 38.

2- तमो विषया वृत्तिरस्फुटं ज्ञानं निद्रा स्वप्नहीना सुषुप्तिरिति सूत्रार्थः। भा॰ पृ॰ 38.

3- सत्वाज्जागरणं विद्यात् रजसा स्वप्नमादिशेत। प्रस्वापनं तु तमसा तुरीयं त्रिषु सन्ततम्॥ भागवत 11/25/20.

कभी-कभी शारीरिक अथवा मानसिक अस्वास्थ्य के कारण साधारण जनों में भी इन्द्राराहित्य देखा जाता है किन्तु इसे योग कदापि नहीं समझना चाहिए क्योंकि निद्रावृत्ति का निरोध होने पर भी अन्य वृत्तियां तो इस अवस्था में विद्यमान रहती ही हैं। अतः समाधि साधन के लिए निद्रावृत्ति का निरोध करना पड़ता है। क्योंकि एकाग्रता सदृश होते हुए भी वह तमस् प्रधान है[1]।

स्मृति-- अनुभूत विषयों का चित्त से असम्प्रमोषः अर्थात् लुप्त न होना ही स्मृति है[2]। असम्प्रमत्तिः = अस्तेय अथवा निजस्वामात्र का ग्रहण, परस्व का अग्रहण। स्मृति रूप वृत्ति के द्वारा पहले अनुभव किये गये वस्तुओं का ही पुनःस्मरण होता है। स्मृति ग्राह्य अर्थात् घटादि रूप एवं ग्रहण अर्थात् "घअमहं-जानामि"[2] इन उभयाकार की होती है। स्मृति में ग्राह्य रूप का प्राधान्य एवं ग्रहण का गौणत्व होता है[3]। तात्पर्य यह है कि स्मृति वस्तुतः अनुभूत विषयों की ही होती है, एवं विषयानुभव तो प्रमाद के कोटि में आ जाता है।

स्मृति दो प्रकार की होती है-- भावितस्मर्तव्या एवं अभावितस्मर्तव्या। जो स्मृति कल्पना पर आधारित अतएव मिथ्या होती है उसे भावितस्मर्तव्या स्मृति कहते हैं।

योगमार्ग पर आरूढ़ योगिजनों को इन सभी वृत्तियों का निरोध आवश्यक है। इन वृत्तियों के निरोध के द्वारा योगी क्रमशः सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ कर सकता है।

1- एकाग्रतुल्या अपि तामसत्वेन निद्रा सबीजनिर्बीजसमाधिप्रतिपक्षेति सा अपि निरोद्धव्येत्यर्थः। त०वै० पृ० 40.

2- प्रमाणादिभिरनुभूते विषये यो असम्प्रमोषः अस्तेयः सा स्मृति, त०वै० पृ० 41.

3- स्मृतौ पुनर्ग्राह्यरूपस्य घटाद्यधिगतविषयस्य प्राधान्यम् ग्रहणव्यापारस्या-प्रधान्यमिति टीका। भा. पृ. 43.

चित्तविक्षेप

योग मार्ग में आने वाले विघ्न चित्त-विक्षेप कहे जाते हैं । इन चित्त विक्षेपों को योगमल, योग प्रतिपक्ष अथवा योगान्तराय भी कहते हैं[1]। वे व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व एवं अनवस्थितत्व--- इन भेदों से नौ प्रकार के हैं[2]। दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास एवं प्रश्वास ये पांच भी उपर्युक्त नव अन्तरायों के साथी हैं[3]।

अन्तराय नष्ट होना तथा चित्त का सम्यक् समाहित होना एक ही बात है । रुग्ण शरीर द्वारा योग का प्रयत्न भली-भांति नहीं हो सकता है । उपद्रवांस्तथा रोगान् हितजीर्णमिताशनात् (शान्ति पर्व 247/8) योगमार्ग की ओर अग्रसर होने वाले व्यक्ति के लिए शारीरिक रूप से पूर्ण स्वस्थ होना अत्यन्त आवश्यक है । स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ बुद्धि रहती है । व्याधि एक महान अन्तराय है । वात, पित्त एवं कफ इन तत्वों से शरीर निर्मित हुआ है । यदि ये तीनों समानुकूल अवस्था में रहें तो शरीर स्वस्थ एवं निरोगी रहता है ।

चित्त की अकर्मण्यता स्त्यान है । चित्त की अकर्मण्यता दूर करने के लिए चित्त को बलात् प्रवृत्त करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

दोनों कोटियों को स्पर्श करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं । "यह ऐसा है" अथवा "इससे यह भिन्न है" अथवा "मैं ऐसा कर सकूँगा या नहीं" यह संशय का स्वरूप होता है । इस प्रकार "हां" अथवा "नहीं" इन कोटियों

1- एते चित्तविक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते । यो0भा0 सू0 89.

2- व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः । यो0 सू0 1-30.

3- दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः 1-31.

के मध्य दोलायमान स्थिति ही संशय है । तत्ववेत्ता सज्जनों की सत्संगमति से संशय का निरसन किया जा सकता है ।

तामसाधिक्य के कारण भारीपन एवं निद्रादि के कारण शरीर एवं चित्त दोनों ही साधना में प्रवृत्त नहीं होते हैं । इसी अप्रवृत्ति को आलस्य कहते हैं[1]।

वस्तु का अयथार्थ ज्ञान, मिथ्याज्ञान अथवा विपरीत ज्ञान ही भ्रांति-दर्शन है[2]। योगमार्ग पर अग्रसर कुछ योगी भ्रान्ति के कारण योगसिद्धियों को ही योग का चरम लक्ष्य मान लेते हैं। योग की निम्न भूमियों को उच्च भूमि एवं उच्च भूमियों को निम्न समझना ही भ्रान्तिदर्शन है ।

समाधिमार्ग के कंटकस्वरूप ये अन्तराय अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा निरुद्ध किये जाते हैं । इन विक्षेपों को दूर करने के लिए "एकतत्त्व" का अभ्यास करना चाहिए[3] । इस प्रसंग में एकतत्त्व को लेकर व्याख्याकारों में कुछ विवाद है । वाचस्पति मिश्र के अनुसार "एकतत्त्व" का अर्थ ईश्वर है[4] । भोज एवं विज्ञानभिक्षु के अनुसार एकतत्त्व का अर्थ कोई एकतत्त्व है । आरण्य वाचस्पति मिश्र के ही मत को सुस्पष्ट करते हैं कि एकतत्त्व से तात्पर्य ईश्वर अथवा अहं तत्त्व से ही है[5] । ईश्वर अथवा अहंतत्त्व के अभ्यास से चित्त को शीघ्र ही

1- गुरुत्वाद जाड्यात निद्रातन्द्राआदितामसाधिक्याया या कायचित्तयोः साधनेऽप्रवृत्तिः । भा. पृ. 89.

2- भ्रान्तिदर्शन तत्त्वानामतद्रूपप्रतिष्ठं ज्ञानम् । भा. पृ. 89.

3- तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः यो० सू. 1-32

4- एकतत्त्वम् ईश्वरः प्रकृतत्वादिति । त०वै० पृ. 91.

5- एकतत्त्वालम्बनायाहंभावः श्रेष्ठतमो, ईश्वरप्रणिधानेऽप्यात्मानमीश्वरस्थं ज्ञात्वा ईश्वरस्थमहमिति ध्यायेत् । भा. पृ. 91-92.

स्थितिलाभ होता है । आचार्य का ही मत अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है क्योंकि ईश्वर एवं अर्हंतत्त्व के सदृश ध्यान के लिए श्रेष्ठ विषयों का कथन ही सूत्रकार को अभीष्ट होना चाहिए । ईश्वर एवं अर्हंतत्त्व इन श्रेष्ठ तत्त्वों के रहते हुए अन्य किसी तत्त्व का अभ्यास करने की आवश्यकता ही नहीं है । वस्तुतः ईश्वर का समावेश योगदर्शन में इसी अभिप्राय से किया गया है कि वह योगमार्ग के कण्टकों का निवारण करता है एवं चित्त को स्थिति-लाभ में सहायता पहुँचाता है । अन्यथा योग की तत्त्वमीमांसा में ईश्वर का अन्य कोई सक्रिय योगदान नहीं है । वैसे भी किसी भी एकतत्त्व के चिन्तन में एवं ईश्वर चिन्तन में बहुत अन्तर है । एक दृष्टांत के द्वारा यह अन्तर सहज ही स्पष्ट किया जा सकता है । यथा छाया प्रदान करना वृक्षमात्र का कार्य है परन्तु वटवृक्ष की छाया में एवं किसी साधारण वृक्ष की छाया में बहुत अन्तर होता है । उसी प्रकार किसी भी एकतत्त्व के अभ्यास से योगान्तराय दूर तो किए जा सकते हैं परन्तु ईश्वर अथवा अर्हंतत्त्व के अभ्यास के द्वारा अधिक शीघ्र एवं अच्छी प्रकार से यह कार्य संपादित किया जा सकता है । अतः आचार्य का यह मत कि ईश्वर अथवा अर्हंतत्त्व का अभ्यास करने से योग-मार्ग के अन्तराय दूर होते हैं, अधिक ग्राह्य एवं समीचीन प्रतीत होता है ।

चित्त परिकर्म

चित्त को समाधियों के योग्य बनाने के लिए पहले जो तैयारी की जाती है योग में उसे परिकर्म कहते हैं । आचार्य हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार चित्त को परिष्कृत एवं परिशुद्ध करने के उपाय ही परिकर्म हैं[1]। विज्ञानभिक्षु के मतानुसार भी समाधि की स्थिति को दृढ़ बनाने के लिए जो परिष्कार किये जाते हैं वे ही परिकर्म कहलाते हैं । इन परिकर्मों का मुख्य प्रयोजन यह है कि इनके द्वारा चित्त को प्रसन्नता का अनुभव होता है । फलस्वरूप चित्त समाधिलाभ करने के लिए योग्य हो जाता है । साधारण भाषा में परिकर्म प्रारंभिक अभ्यास अथवा अभ्यास के प्राथमिक चरण कहे जा सकते हैं ।

परिकर्म मुख्यतः सात हैं । पहला परिकर्म मन की भावना से सम्बंधित है । सुखी, दुखी, पुण्यवान् एवं पापी जीवों के क्रमानुसार मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा की भावना रखने से चित्त प्रसन्न होता है[2] । लोक में प्रायः दूसरों को सुखी देखने पर अपने मन में ईर्ष्या की भावना उत्पन्न होती है । अपने शत्रु आदि पर कोई दुःख आ पड़े तो आनन्द की अनुभूति होती है । इसी प्रकार पुण्यात्मा के दर्शन से असूयत्व होता है तथा पापात्माओं के चिन्तन से क्रोध उत्पन्न होता है । लौकिक व्यवहार में जो ये प्रतिक्रियाएं होती हैं ये चित्त को कभी भी समाहित नहीं होने देतीं एवं सदैव उद्विग्नता बनाये रखती हैं । इसी कारण इस प्रथम परिकर्म में भावनाओं को नियन्त्रित एवं परिशुद्ध करने का उपाय बताया गया है । आचार्य विषय को सुगम करते हुए कहते हैं कि सुखसम्पन्न प्राणी अपने मित्र ही हैं एवं जिस प्रकार का आनन्द मित्र के

1- स्थित्यर्थं यदिदं परिकर्म परिष्कृतिः भा. पृ. 97.

2- मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् । यो. सू. 1-33.

सुखी होने पर होता है उसी प्रकार अन्य लोगों को सुखी देख कर आनन्दित होना चाहिए[1]। इसी प्रकार अपने स्वजनों एवं प्रियजनों के दुखी होने पर जिस प्रकार दुःख एवं करुणा होती है उसी प्रकार इस जगत के प्राणिमात्र के दुःखी होने पर करुणा की भावना करनी चाहिए। मित्र या शत्रु जो भी पुण्यात्मा इस संसार में हों उनके प्रति मुदिता की भावना करनी चाहिए। पापीजनों के दोष दिखने पर भी उनके प्रति उपेक्षा (उदासीनता) की भावना करनी चाहिए। सूत्रगत उपेक्षा शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए आरण्य कहते हैं कि हम अपने मित्र अथवा परिचित स्वजनों के पापात्मक आचरण की उपेक्षा करते हैं अर्थात् न तो उनका द्वेष अथवा बुराई करते हैं एवं न ही उनका अनुमोदन ही करते हैं[2]। उनके प्रति सर्वथा असम्बद्धता एवं उपेक्षा का भाव रखते हैं। यही उपेक्षा संसार के समस्त पापी प्राणियों के प्रति रखनी चाहिए।

मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा इन चार प्रकार की भावनाओं से चित्त निर्मल एवं प्रसन्न होता है एवं समाधिलाभ होने में विशेष सहायता प्राप्त होती है। बौद्धदर्शन में इन भावनाओं का विशेष महत्त्व है एवं इन्हें बौद्ध ब्रह्मविहार कहते हैं तथा इन्हें ब्रह्मलोक की प्राप्ति के साधन मानते हैं। इन मानसिक भावनाओं के माहात्म्य एवं उनकी उपादेयता को श्रीमद्-भगवद्गीता में भी स्वीकार किया गया है।

प्रच्छर्दन और विधारण परिकर्मों के क्रम में द्वितीय आते हैं। प्रच्छर्दन एवं विधारण के द्वारा भी मन स्थिर होता है[3]। शरीर के अन्दर स्थित

1- सुखसम्पन्नेषु सर्वप्राणिष्वमकारिष्वपि मैत्रीं भावयेत् स्वमित्रस्य सुखे जाते यथा सुखी भवेत्तथा भावयेः। भा. पृ. 97.

2- स्वकीयानां पापकृतामाचरणमुपेक्षेत न विद्विष्यान्नानुमोदयेदिति।
भा. पृ. 98.

3- प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। यो. सू. 1-34.

वायु को यौगिक विधि के द्वारा नासिकापुटों से बाहर निकालना प्रच्छर्दन है । प्राणायाम ही विधारण है ।

प्राणायाम करते समय चित्त का एकाग्र होना अत्यावश्यक है । प्रच्छर्दन से तात्पर्य रेचक से है एवं विधारण के अन्तर्गत पूरक एवं कुम्भक ये दोनों आते हैं । इस प्रक्रिया को समझाते हुए आचार्य कहते हैं कि वायु बाहर निकाल देने अर्थात् प्रच्छर्दन के पश्चात् यथाशक्ति जितने अधिक समय तक हो सके वायु को अन्दर नहीं करना चाहिए । तब प्रयत्न करके चित्त को ध्येय विषय में लगाना चाहिए एवं साथ ही अन्य विचारों का विवारण अथवा त्याग कर देना चाहिए । तब पुनः ध्येय में ही चित्त को लगाये हुए युक्तिपूर्वक वायु को शरीर के अन्दर कर लेना चाहिए और पुनः प्रच्छर्दन के द्वारा बाहर निकालना चाहिए । इस प्रकार प्रच्छर्दन एवं विधारण के निरन्तर अभ्यास से चित्त को स्थितिलाभ होता है[1]। इस प्रसंग में सूत्र "प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य" में वा शब्द के प्रयोग के कारण विज्ञानभिक्षु इसे विकल्पात्मक मान कर मैत्री, करूणादि भावनाओं में संगृहीत कर प्रच्छर्दन विधारण को भी चित्त को प्रसन्न करने का उपाय बतलाते हैं । राघवानन्द सरस्वती एवं रामानन्दयति विज्ञानभिक्षु से असहमत हैं । आचार्य हरिहरानन्द आरण्य भी "वा" इस विकल्प के आधार पर प्रच्छर्दन एवं विधारण को चित्त की प्रसन्नता का हेतु नहीं मानते हैं वरन् उनके अनुसार प्राणायाम चित्त को स्थितिलाभ कराता है ।

प्राणायाम के अतिरिक्त अन्य भी कुछ परिकर्म हैं जो कि मन को स्थैर्य प्रदान करते हैं । इन परिकर्मों में गन्धरसादि पांच विषयों का साक्षात्कार करने वाली वृत्तियां उत्पन्न होकर मन को स्थिरता देने में कारणीभूत होती हैं[2]।

1- वमनं प्रच्छर्दनं, ततो विधारणं=यथाशक्ति कियत्कालं यावद्, वायोरग्रहणं, ततः प्रयत्नेन सह चित्तस्यापि धारणीये देशे स्थापनमन्यचिन्तापरिहारश्च, ततः पुनर्ध्येयगतचित्तस्तिष्ठन्, वायुं लील्याऽवगम्य पुनः प्रच्छर्दनमित्यस्य निरन्तरा- भ्यासेन चित्तमेकाग्रमभिकुर्यात् । भा. पृ. 98-99

2- विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी । यो. सू. 1-35.

भोज विषयवती प्रवृत्ति का स्पष्टीकरण करते हैं कि सुगन्धादि विषय फलरूप में जिसमें विद्यमान रहते हैं वह विषयवती प्रवृत्ति है एवं यह मन को स्थिर करती है[1]। नासिकाग्र में धारणा करने से जो दिव्य सुगन्धानुभूति होती है, वह गन्धप्रवृत्ति है । जिह्वाग्र में धारण से प्राप्त दिव्य रसानुभव रसप्रवृत्ति है । तालुप्रदेश में धारणा करने से दिव्य रूप का साक्षात्कार होना रूपप्रवृत्ति है । जिह्वा के मध्य में धारणा करने से दिव्य स्पर्श का साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है, जिसे स्पर्शप्रवृत्ति कहते हैं । इसी प्रकार जिह्वा की जड़ में धारणा करने से दिव्य शब्द का साक्षात्कार होता है, यह शब्द प्रवृत्ति है । इस प्रकार उपर्युक्त ये पाँच विषयवती प्रवृत्तियाँ होती हैं ।

इन विषयवती प्रवृत्तियों में से किसी एक का साक्षात्कार साधक को अवश्य कर लेना चाहिए । क्योंकि योगशास्त्र में प्रतिपादित सभी तथ्य सत्य एवं विश्वसनीय हैं परन्तु फिर भी स्वयं साक्षात्कार कर लेने से साधक के मन में अधिक श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है एवं फलस्वरूप वह द्विगुणित उत्साह के साथ समाधिसाधना की ओर तत्पर होता है ।

विषयवती प्रवृत्तियों के अतिरिक्त विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति भी चित्त की स्थिति में हेतु बनती है[2]। सात्त्विक भावना के अभ्यास के फलस्वरूप चित्त परम सुखमय हो जाता है, यही विशोका स्थिति है । ज्ञानालोक के आधिक्य के कारण इसे ज्योतिष्मती कहते हैं । आचार्य के अनुसार भी ब्रह्मानन्द के उद्रेक से सकल दुःखहीना स्थिति विशोका एवं ज्ञानमय बोध के

1- विषयाः गन्धरसरूपस्पर्शशब्दास्ते विद्यन्ते फलत्वेन यस्याः सा विषयवती प्रवृत्तिः मनसः स्थैर्यं करोति । रा. मा. सू. पृ. 21.

2- विशोका वा ज्योतिष्मती । यो. सू. 1-36.

आधिक्य के कारण ज्योतिष्मती है[1]।

"चित्तसंविद्" एवं "अस्मिता संविद्" इन भेदों से यह ज्योतिष्मती प्रवृत्ति द्विविध होती है। जिस प्रकार विषयवती प्रवृत्तियों का साक्षात्कार नासिका, तालु, जिह्वा आदि नियत स्थानों पर धारणा करने से किया जाता है उसी प्रकार से विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति की धारणा के लिए अनाहतादि सात चक्र रूप स्थल नियत हैं। कमल के आकार के होने के कारण इन चक्रों को कमल भी कहते हैं।

विशोका ज्योतिष्मती के द्विविध भेदों में से प्रथम अर्थात् चित्तसंविद् का वर्णन भाष्यकार करते हुए कहते हैं कि हृत्कमल में धारणा करने वाले साधक को जो बुद्धि साक्षात्कार होता है उससे उसका चित्त सात्विक ज्योतिस्वरूप आकाश के सदृश प्रकाशित होता है। सात्विक निर्मलता के कारण वह प्रवृत्ति कभी सूर्य, कभी चन्द्र, अथवा मणि एवं ग्रह की क्रान्ति के रूप के समान प्रतिभासित होती है।

आचार्य के अनुसार "अस्मिता" में धारणा करने से चित्त वितर्क आदि तरंगों से रहित निस्तरंग शान्त एवं अनन्त हो जाता है[2]। यह अस्मितासंविद्-रूपिणी विशोक ज्योतिष्मती है। इसके लिए पंचशिखाचार्य का यह सूत्र प्रमाण है --

"तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्संप्रजानीते।"

उस अणु एवं सत्व की अपेक्षा सूक्ष्म आत्मा को अनुभव के द्वारा जान लेने पर "अस्मि" अथवा "मैं हूँ" इस स्वरूप को योगी समझ लेता है। इस प्रकार

1- विशोका ब्रह्मानन्दोद्रेकाच्छोकदुःखहीना, ज्योतिष्मती ज्योतिर्मयबोधप्रचुरा। भा. पृ. 101.

2- वितर्कतरंगरहितत्वादसंकुचितवृत्तिमत्वाद् अतः शान्तमनन्तम् अथवा सीमाज्ञान-हीनं न तु वृद्धदेशव्याप्तम्। भा. पृ. 102.

हिमतासंविद्रूपिणी, एवं अहिमतासंविद्रूपिणी इस द्विविधा विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति की धारणा से चित्त स्थिर एवं एकाग्र होता है ।

वीतराग योगियों के चित्त को भी धारणा का विषय बनाने से साधक के चित्त को स्थितिलाभ होता है[1]। जो योगी राग द्वेष आदि दुर्बलताओं के ऊपर उठकर विरक्त हो गये हैं उनके चित्त की धारणा करने से वैसे ही वैराग्य के भाव साधक के चित्त में भी आते हैं । हिरण्यगर्भ, शुक, सनकादि ऐसे ही वीतराग योगी हैं जिनके चित्त में धारणा करने से योगी स्थितिलाभ कर सकता है ।

निद्रा एवं स्वप्न के ज्ञान को आलंबन बनाने से भी चित्त स्थितिलाभ करता है[2] । आचार्य हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार स्वप्नावस्था में मानसिक अर्थात् काल्पनिक ज्ञान प्रत्यक्ष होता है एवं बाह्य ज्ञान पूर्णतया निरुद्ध हो जाता है । इस प्रकार के काल्पनिक एवं मानस ज्ञान को आलंबन बनाने से चित्त को स्थितिलाभ होता है[3]। कल्पनाशील बालक एवं विशेष हिप्नोटिक स्वभाव के व्यक्ति इस प्रकार बाह्य ज्ञान को निरुद्ध करके मानस ज्ञान पर धारणा कर लेते हैं ।

स्वप्नावस्था में बाह्यज्ञान निरुद्ध होता है एवं मानस ज्ञान प्रत्यक्ष है । परन्तु निद्रावस्था में ये दोनों भी निरुद्ध हो जाते हैं । निद्रा में तमोगुणाधिक्य के कारण केवल जड़ता का अनुभव होता है । अतः बाह्य अर्थात् यथार्थ एवं काल्पनिक दोनों के रुद्ध भाव का आलंबन ही निद्राज्ञानालंबन है । इससे भी चित्त को स्थिरता प्राप्त होती है ।

1- वीतरागविषयं वा चित्तम् । यो0 सू0 1-37.

2- स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा । 1-38 ।

3- अन्तः प्रज्ञं यदीदृशं स्वप्ने ज्ञानं भवति भावितस्मर्तव्यविषयकम् तादृशकल्पित-विषयालम्बनं चित्तं कुर्यात् तदभ्यासाच्च केषांचित् स्थितिर्भवति । भा. पृ. 104-105.

किसी भी अभीष्ट विषय पर ध्यान करने से भी चित्त स्थिर होता है[1]। साधक को जिस पर भी श्रद्धा हो उस पर धारणा करने से स्थितिलाभ होता है। अभीष्ट विषय पर धारणा के अनन्तर क्रमशः वह साधक उच्चतर एवं उच्चतम तत्वों पर भी धारणा के योग्य हो जाता है।

उपर्युक्त परिकर्मों से परिष्कृत चित्त का वशीकार परमाणु पदार्थों से लेकर परममहत् पदार्थों तक हो जाता है[2]। तन्मात्र सदृश सूक्ष्म एवं आकाश या अस्मिता तत्व सदृश विशाल पदार्थों में साधक की अप्रतिहित गतिमत्ता ही वशीकार है। यह वशीकार चित्त के परिकर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न होता है एवं चित्त को एकाग्र कराकर स्थैर्य एवं स्थितिलाभ प्रदान करता है।

1- यथाभिमतध्यानाद्वा यो. सू. 1-39.

2- परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः। 1-40.

...

द्विविध समाधि

समाधियाँ चित्त की अनेक वृत्तियों का निरोध करने वाली होती हैं। यह समाधि भेद के आधार पर सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात इस प्रकार द्विविध होती हैं। राजस एवं तामस वृत्तियों के निरोध होने पर पूर्णरूप से सात्विक वृत्ति की उदीयमान अवस्था ही सम्प्रज्ञात समाधि है। इस समाधि में चित्त को प्रकृति एवं पुरुष का विवेकज्ञान हो जाता है। इसमें कोई न कोई ध्येय आलंबन रहता है अतः इसे सालंबन समाधि कहते हैं। इसके पश्चात् अंतिम अवस्था वह है जबकि विशुद्धोदयशाली चित्त गुणों के प्रति भी विरक्त हो जाता है फलस्वरूप सात्विक वृत्ति का भी निरोध हो जाता है। सात्विक वृत्ति का भी निरोध हो जाने से चित्त में किसी भी प्रकार का ज्ञान शेष नहीं रह जाता है। अतः इस कारण इसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस समाधि में ध्येय विषय का आलंबन नहीं लिया जाता है अतः यह निर्बीज समाधि भी कही जाती है। वस्तुतः यही समाधि योगिजनों का चरम लक्ष्य है एवं यही कैवल्य की प्रदायिका है।

सम्प्रज्ञात समाधि —

सम्यक् प्रज्ञायतेऽस्मिन्निति सम्प्रज्ञातः समाधिः।

सम्प्रज्ञात समाधि एकाग्रभूमिक चित्त में उत्पन्न होती है, सद्भूतार्थ का ज्ञान कराती है, क्लेशों को क्षीण कर देती है, कर्म के बंधनों को शिथिल कर देती है, तथा निरोध की ओर अभिमुख कराती है[1]। यह सबीज समाधि है क्योंकि इसमें स्थूल अथवा सूक्ष्म कोई न कोई ध्येय विषय अवश्य रहता है।

1- यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति, स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते।
यो. भा. सू. 1/1

सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि चार सोपानों के क्रम से होती है[1]।

कुछ ध्येय विषय स्थूल एवं कुछ सूक्ष्म होते हैं। ज्ञान के सरल से कठिन की ओर इस सिद्धान्त के अनुसार योगाभ्यास में रत योगी पहले स्थूल विषयों को एवं फिर क्रम से सूक्ष्म विषयों को अपना ध्येय बनाता है। जिस प्रकार से बालक को प्रथमतः सरल विषयों में दीक्षित किया जाता है एवं उन सरल विषयों में उसकी बुद्धि परिपक्व हो जाने पर ही क्रमानुसार कठिन विषय समझाये जाते हैं। उसी प्रकार योगिजन भी स्थूल विषयों पर केन्द्रित ज्ञान के परिपक्व हो जाने के उपरान्त क्रमशः सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर विषयों को आलम्बन बनाने के लिए अग्रसर होते हैं।

वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि —

आचार्य हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार चित्त में स्थूल विषय के आभोग अर्थात परिपूर्णता को वितर्क कहते हैं[2]। वाचस्पति मिश्र के अनुसार चित्त का आलंबन के आकार से आकारित हो जाना ही आभोग है[3]। विज्ञानभिक्षु वितर्क को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि विशेष रूप से ज्ञान अथवा निश्चय ही वितर्क है एवं इस वितर्क से युक्त निरोध ही वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है[4]।

घट पटादि ये सब स्थूल विषय हैं। वस्तुतः साधारण इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य सभी विषय स्थूल हैं। वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में ध्यान का विषय इन्द्रिय ग्राह्य स्थूल विषय होता है। इस ध्यान के फलस्वरूप चित्त उस विषय से तदाकाराकारित हो जाता है। इस तदाकाराकारितता

1- वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्सम्प्रज्ञातः।

2- चित्तस्यालम्बने ध्येयविषये यः स्थूल आभोगःसाक्षात् प्रज्ञया परिपूर्णता स वितर्कः। भा. पृ. 51.

3- स्वरूपसाक्षात्कारवती प्रज्ञा आभोगः। त०वै० 51.

4- विशेषेण तर्कणमवधारणं वितर्कस्तेनानुगतो युक्तो निरोधो वितर्कानुगतनामा योग इति भावः। यो. वा. पृ. 52

से जो चित्तवृत्ति बनती है— वह वितर्कान्वयी वृत्ति कहलाती है । आचार्य के अनुसार सोलह स्थूल विषयों को आलंबन बनाकर उत्पन्न समाधि एवं तद्जन्य प्रज्ञा जब चित्त में सर्वदा रहती है तब वह वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि होती है[1]।

वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि अन्य तीनों अर्थात् विचारानुगत, आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत समाधियों से युक्त होती है । वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में स्थूल विषय का आभोग ही प्राधान्येन होता है परन्तु गौणत्वेन विचार, आनन्द एवं अस्मिता के आभोग भी विद्यमान रहते हैं ।

विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि— भास्वती के अनुसार विचार ही ध्यान करने वालों की युक्ति है और इस विचार से सूक्ष्म अर्थ का ज्ञान होता है । इस प्रकार विचार से उत्पन्न सूक्ष्म विषय की प्रज्ञा से चित्त की परिपूर्णता ही विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है[2]।

सूक्ष्म विषयों में चित्त की तदाकाराकारित होना ही विचार है ।

जिस प्रकार वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि अपने अनन्तर सिद्ध होनेवाली अन्य तीन विचार, आनन्द एवं अस्मिता इन समाधियों से युक्त होती है, उसी प्रकार विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि भी अपने पश्चात् आने वाली आनन्द व अस्मिता इन समाधियों से युक्त होती है । परन्तु इसमें स्थूल विषयक वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि का पूर्णतया अभाव रहता है । विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में सूक्ष्म विषयों के आभोग का प्राधान्य रहता है । परन्तु आनन्द एवं अस्मिता के भी आभोग स्वल्पमात्रा में विद्यमान रहते हैं ।

1- तत्र षोडशस्थूलविकारविषया समाधिजा प्रज्ञा यदा चेतसि सदैव प्रतिष्ठिता तदा वितर्कानुगतः सम्प्रज्ञातः । भा. पृ. 52.

2- विचारो ध्यायिनां युक्तिः सूक्ष्मार्थाधिगमो यत इत्येवंलक्षणेन विचारेणाधिगतसूक्ष्मविषयया प्रज्ञया चेतसः परिपूर्णता विचारानुगतः सम्प्रज्ञातः । भा. पृ. 52

आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि—

इस समाधि में योगी को यह ज्ञान हो जाता है कि इन्द्रियाँ जो कि सदैव विषय व्यापार में रत रहती हैं, वही यदि शान्त अर्थात् विषय व्यापार से कि से विरक्त हो जाएँ तो अधिक आनन्द उत्पन्न करती हैं । यह ज्ञान होने पर योगी सदैव हृदय को तत्तद् विषयों से विमुख कर शांत रखने का प्रयास करता है क्योंकि ऐसा करने में परम आनन्दानुभूति होती है । प्राणायाम सदृश यौगिक उपायों से शरीर में वृहद आनन्द का अनुभव होता है । उसी को आलंबन बनाकर ध्यान करते रहना ही आनन्दानुगत सम्प्रज्ञान समाधि है[1]। इस प्रसंग में आचार्य मोक्षधर्म से उद्धरण देते हुए कि अभ्यास के द्वारा इन्द्रियों को विषयहीन करके मन में पिण्डीभूत करने से जब अत्यन्त सुखप्राप्ति होती है वह लौकिक अथवा दैव अन्य किसी पुरुष से प्राप्त विषयोपलब्धि से नहीं हो सकती है । इस सुख से युक्त होकर ही योगी ध्यान और कर्म में रमण करते हैं । विचारानुगत सम्प्रज्ञान के लिए अपरिहार्य विचारयुक्त ध्यान की भी आवश्यकता इसमें नहीं होती है । इसलिए यह वितर्क एवं विचार से रहित होती है[2]।

अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि —

योगसूत्रानुसार भी ग्रहीता पुरुष के साथ बुद्धि की एकरूपता ही अस्मिता है । "दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता" । जिस प्रकार वितर्क एवं विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि विषय से तथा आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि ग्रहण से सम्बन्धित होती है उसी प्रकार अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि ग्रहीता से सम्बन्धित होती है ।

1— अन स्थूलेन्द्रियाणां स्थैर्यसहगतसात्त्विकप्रकाशजात आनन्दः प्राधान्येन क्रियते, तत्पश्चान्तःकरणस्थैर्यजातस्य ह्लादस्याधिगमो भवति । भा. पृ. 54.

2— एवमयं स्थूलसूक्ष्मग्राह्यहीनत्वाद वितर्कविचारविकलः । भा. पृ. 54.

आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि का भेद भास्वती में अत्यन्त सुन्दर एवं सरल विधि से समझाया गया है। आचार्य के अनुसार इस अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में आनन्द का भी " मैं ज्ञाता अथवा ग्रहीता हूँ" इस प्रकार का अस्मितामात्र या "अहं" इस प्रकार की बुद्धिवृत्ति ही ध्यान का आलंबन होती है। अर्थात साक्षात आनन्द का ग्रहण न होकर " मैं आनन्द का ज्ञाता हूँ" इस प्रकार का अहंप्रत्ययात्मक ज्ञान होता है। इसी दृष्टि से अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि को आनन्द विकल कहा गया है[2]। आचार्य के मत में आनन्दविकल का अर्थ आनन्द से रहित नहीं है अपितु आनन्द से परे है। क्योंकि इसमें आनन्द ध्येयालम्बन न होकर आनन्द का ग्रहीता ध्यान का आलम्बन होता है। अतः यह आनन्दानुगत से उच्चतर स्थिति है। अहं प्रत्ययात्मक बोध पुरुष के द्वारा अभिव्यक्त होता है। आचार्य के अनुसार अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में ध्यान का आलंबन अथवा ध्येय व्यावहारिक ग्रहीता अर्थात महान आत्मा होता है। सांख्यदर्शन के अनुसार यह महत है।

अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि के अहं प्रत्ययात्मक ज्ञान को लेकर व्याख्याकारों में कुछ मतभेद स्पष्टतया परिलक्षित होता है। आरण्य इस प्रसंग में विज्ञानभिक्षु एवं भोज से सहमत नहीं हैं। भोज के अनुसार अंतर्मुख होने के कारण प्रतिलोम परिणाम के द्वारा चित्त प्रकृति लीन होने से सत्तामात्र अवभासित होता है, एवं वही अस्मिता है। परन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि प्रकृतिलयत्व की दशा में सम्प्रज्ञात समाधि होती ही नहीं है। प्रकृतिलयत्व तो भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि का फल है। आरण्य वाचस्पति मिश्र की व्याख्या को उचित मानते हैं। "अहमस्मि" इस प्रकार का ज्ञान अथवा अन्तर्भाव ही

1- दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता। यो. सू. 2-6

2- चतुर्थे ध्याने आनन्दस्यापि "ज्ञाताअहम्" इत्यस्मितामात्रं संविदालम्बनं ततस्तदानन्दादि विकलम्। भा. पृ. 54.

बुद्धितत्व होता है[1]। सकल करण व्यापारों का स्रोत अहम्प्रत्यय ही है। सूक्ष्मतम ज्ञान के लिए भी ज्ञाता का अस्तित्व आवश्यक है। ज्ञान के निरोध से ज्ञेय ज्ञातृत्व अथवा व्यावहारिक अहम्भाव भी निरुद्ध हो जाता है। फलस्वरूप द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति हो जाती है। अहंकार बुद्धि का विकार है अतएव अहंबोध रूप ज्ञान ही अहंकार है। शास्त्र भी "अभिमानो-अहंकारः" कहकर अभिमान को अहंकार का पर्यायवाची मानते हैं। अस्मिता-नुगत सम्प्रज्ञात समाधि अस्मितास्वरूप बुद्धि का साक्षात्कार है। इस समाधि में आलंबन स्वरूप द्रष्टा नहीं होता है क्योंकि सम्प्रज्ञात समाधि में प्रकृति एवं पुरुष स्वरूपतः ध्यानालंबन नहीं होते हैं। अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि का विषय विरूप द्रष्टा अर्थात् अस्मि प्रत्यय व व्यावहारिक पुरुष ही होता है।

ये चारों सम्प्रज्ञात समाधियाँ सालम्बन होती हैं क्योंकि इसमें चित्त-वृत्तियों का पूर्ण निरोध नहीं होता है। सात्विक वृत्ति प्रकृष्टतया उदीय-मान होने के कारण उसका आलंबन होना भी आवश्यक है। इसके विपरीत असम्प्रज्ञात समाधि में सकल चित्तवृत्तियों का सम्पूर्णतया निरोध हो जाने के कारण आलंबन का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है। अतः इसे निरा-लम्ब अथवा निर्बीज समाधि भी कहा जाता है।

असम्प्रज्ञात समाधि -- परवैराग्य के सतत अभ्यास से निरोध संस्कारमात्र अवशिष्ट चित्त की समाधि असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है[2]। विज्ञानभिक्षु के अनुसार सूत्रगत (1-18) "विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः" इस आपपाद से असम्प्रज्ञात समाधि का उपाय बताया गया है। "संस्कारशेषः" इस पद के

1- सा चास्मिता ग्रहीत्रा सह बुद्धिरेकात्मिका संविदिति, तस्यां च ग्रहीतुरन्तर्भावाद-भवति ग्रहीतृविषयः सम्प्रज्ञात इति। त0 वै. पृ. 54.

2- विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। यो. सू. 1-18.

द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि के स्वरूप का निर्देश किया गया है एवं अंतिम पद "अन्यः" के द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि का कथन विवक्षित है[1]।

"विरामप्रत्ययाभ्यास" के विषय में आचार्य कहते हैं कि सकल ज्ञान के राहित्य अर्थात् विराम के कारणीभूत वैराग्य का निरंतर अभ्यास करना ही विरामप्रत्ययाभ्यास[2] है । इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि असम्प्रज्ञात-समाधि की पूर्ववर्ती सम्प्रज्ञात समाधि में क्रम से स्थूल तत्वों से प्रारम्भ करके अंत में अत्यन्त सूक्ष्म विषय अर्थात् अहं प्रत्यय पर धारणा की जाती है । यही प्रकृति एवं पुरुष का विविध ज्ञान अर्थात् विवेकख्याति है । विवेकख्याति के द्वारा साधक बुद्धि की सत्वगुणात्मकता, जड़ता, अशुद्धता, परिणामिता आदि दोषों को जान जाता है । पुरुष के अपरिणामी, शुद्ध अनन्त एवं चिन्मात्र स्वरूप का बोध हो जाने से साधक विवेकख्याति के प्रति भी विरक्त हो जाता है । यह परवैराग्य है । इस सर्वोच्च ज्ञान का भी त्याग कर देने से ज्ञान की कारणभूता बुद्धि का माध्यमत्व बन्द हो जाता है एवं तब सम्पूर्ण चित्तवृत्तियां निरुद्ध हो जाने से चित्त अव्यक्त में लीन हो जाता है । यही द्रष्टा के स्वरूप में स्थिति है[3]

असम्प्रज्ञात समाधि संस्कारशेषावस्था है । ऐसी अवस्था जिसमें व्युत्थान संस्कार निरोध संस्कारों के द्वारा अभिभूत होने के कारण ज्ञान उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं, संस्कारशेषावस्था कहलाती है[4] । अर्थात् चित्त में केवल

1- तथा चाव विशेषणेनोपायकथनं प्रथमेन लक्षणकथनमन्त्येन लक्ष्यकथनमन्यो असंप्रज्ञात इत्यर्थः यो. वा. पृ. 55

2- सर्वप्रत्ययहीनतायाः प्रत्ययः कारणं परं वैराग्यं तस्याभ्यासः पूर्वः प्रकर्षो यस्य सः — भा. पृ. 55

3- तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् । यो. सू. 1-3.

4- संस्काराः न च प्रत्यया यत्राव्यक्तरूपेणावशिष्टास्तादृशः समाधिरसंप्रज्ञात । भा. पृ. 55

निरोध संस्कार ही अवशिष्ट रहे । अन्य किसी भी ज्ञान एवं तद्जन्य संस्कारों का पूर्णतया अभाव हो । यह ज्ञानहीन अवस्था ही सर्वश्रेष्ठ स्थिति एवं असम्प्रज्ञात योग है । केवल वृत्तियों का निरोध ही योग नहीं है क्योंकि क्लोरोफार्म देने से भी चित्त का व्यापार बन्द हो जाता है एवं हिस्टीरिया आदि कुछ मानसिक रोगों में भी चित्तवृत्तियां रुद्ध हो जाती हैं । पर यह योग नहीं है । योग की कोटि में आने वाला चित्तवृत्तिनिरोध सम्प्रज्ञानपूर्वक होता है ।

निरोध के स्वरूप को सुन्दर एवं सरल रूप में आरण्य ने विवेचित किया है । उनके अनुसार निरोध द्विविध है सभंग या संस्कारशेष एवं शाश्वत अथवा संस्कार-हीन । सभंग निरोध में केवल ज्ञान का निरोध होता है । इसमें ज्ञान संस्कार रूप में परिवर्तित हो जाता है । शाश्वत निरोध ही कैवल्यप्रद है । इसमें चित्त स्वकारण अव्यक्त में लीन हो जाता है । संस्कारों के सम्बन्ध में एक मनोरंजक एवं सुन्दर उदाहरण देते हुए आचार्य कहते हैं कि चित्त का संस्कारशेष रूप में रहना उसकी अपरिदृष्ट अवस्था है । यह गुणों की साम्यारूप अव्यक्तावस्था नहीं है । जलतरंगों के साथ तुलना करके आचार्य विषय को अधिक स्पष्ट करते हैं । उनके अनुसार समतल जल गुणसाम्यावस्था है, उसका ऊपरी भाग ज्ञान एवं उस समतल जल रेखा का निचला भाग संस्कार है । यह असम्प्रज्ञात समाधि ध्येय विषय से रहित होती है । ध्येयाशून्य परवैराग्य के अभ्यास से चित्त आलंबनहीन हो जाता है । इसकारण इसे "निर्बीज" समाधि भी कहते हैं । यहां पर निर्बीज शब्द के विभिन्न व्याख्याकारों ने भिन्न भिन्न अर्थ किये हैं । वाचस्पति मिश्र के अनुसार निर्बीज का अर्थ क्लेशकर्माशय रूपी बीजों से रहित है[1] । विज्ञानभिक्षु के अनुसार ज्ञानाज्ञानसंस्काररहीन

1- क्लेशसहितः कर्माशयो जात्यायुर्भोगा बीजं तस्मान्निर्गतम् इति निर्बीजः । त० वै० पृ० 17.

है[1]। इस प्रसंग में आचार्य का मत ही सर्वथा ग्राह्य है । उनके अनुसार ध्येय विषय रूप आलंबन के अभाव के कारण ही यह निर्बीज समाधि है[2]। क्योंकि निरालम्बत्व ही इस समाधि की प्रमुख विशेषता है इसलिए सूत्रकार एवं भाष्यकार को निर्बीज का निरालंबनत्व यह अर्थ ही अभिप्रेत होगा, ऐसी कल्पना की जा सकती है ।

असम्प्रज्ञात समाधि भी भवप्रत्यय एवं उपाय प्रत्यय इस प्रकार द्विविध होती है । असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा सर्ववृत्तिनिरोध होने पर साधक को साक्षात् कैवल्य प्राप्ति होती है ।

1- चित्तबीजस्य संस्कारस्य तत्कालजन्यपर्यन्तस्याशेषतो दाहा निर्बीजसंज्ञा तस्येति भावः यो॰ वा॰ पृ॰ 17.

2- ध्येयविषयरूपस्य बीजस्याभावाद् निरोधः समाधिर्निर्बीज इत्युच्यते । भा. पृ. 17.

* * *

असम्प्रज्ञातयोग की साधना के अंग

असम्प्रज्ञात योग साधना स्वरूप के आधार पर दो प्रकार का होता है— भव प्रत्यय एवं उपाय प्रत्यय । विज्ञानभिक्षु के अनुसार भव का अर्थ है जन्म एवं प्रत्यय का अर्थ है कारण । अर्थात भव प्रत्यय असम्प्रज्ञात योग का अर्थ है वह योग जो कि जन्म से ही हो अथवा जिसका कारण जन्म हो । भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात योग विदेह नामक देवताओं तथा प्रकृतिलीनों को ही होता है[1]।

"भव" शब्द को लेकर टीकाकारों में मतभेद है । विज्ञानभिक्षु के अनुसार भव का अर्थ जन्म है । वाचस्पति मिश्र के मत में भव से तात्पर्य अविद्या से है । राजमार्तण्डवृत्तिकार के अनुसार भव का अर्थ संसार है । देखा जाए तो ये सभी मत अंशतः ही उचित हैं । परन्तु आचार्य के अनुसार वस्तुतः जन्म के हेतुरूप अविद्या से उत्पन्न संस्कारों को ही भव मानना सबसे उचित प्रतीत होता है[2]। यह भवप्रत्यय समाधि कैवल्य लाभ नहीं करा पाती है अतः भोज के अनुसार यह केवल योगाभ्यास ही है[3]।

भव को समझ लेने के पश्चात विदेह एवं प्रकृतिलीन इन दशाओं का स्पष्टीकरण आवश्यक है । इस विषय में भी टीकाकारों में मतसाम्य नहीं है । वाचस्पति मिश्र के अनुसार भूत तथा इन्द्रियों में से किसी एक को आत्मस्वरूप जानकर उसकी उपासना के संस्कार द्वारा देहान्त के पश्चात् जो उपास्य में

1- भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् । यो०सू. 1-19

2- भवति जायतेऽनेनेति भवो जन्महेतवः अविद्यामूलाःसंस्काराः । —भा. सु. 57.

3- तेषां पतनत्वादर्शनायोगाभासोऽयम् ।
रा० मा० सू० 12.

लीन होते हैं वे विदेह कहलाते हैं[1]।

भोज के मत में सानन्द समाधि में जो प्रधान एवं पुरुष तत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर पाते वे देहाहंकार से शून्य होने के कारण विदेह कहलाते हैं। विज्ञानभिक्षु के अनुसार शरीर-विषयक बुद्धिवृत्ति से युक्त महदादि देवताएं विदेह हैं[2]। ये सभी व्याख्याएं पूर्णतया शुद्ध नहीं हैं।

पूर्वाचार्यों के द्वारा इस विषय का उचित स्पष्टीकरण न किये जाने के कारण आचार्य हरिहरानन्द आरण्य ने विस्तार से विदेह एवं प्रकृतिलीन अवस्थाओं का वर्णन किया है। वाचस्पति मिश्र ने उपास्य भूत अथवा इन्द्रियों में लीन को विदेह कहा है जो कि अनुचित है क्योंकि भूतादि में लीन चित्त कभी भी निर्बीज नहीं हो सकता अतः असम्प्रज्ञात योग की स्थिति असम्भव है। परन्तु सूत्र एवं भाष्य दोनों के ही द्वारा विदेहों को निर्बीज समाधिलाभ का उल्लेख किया गया है। आचार्य अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए विदेह का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि स्थूल ग्रहण में समापन्न योगी विषय त्याग से आनन्द प्राप्त करके विषय त्याग को ही परम पद मान लेता है तथा शब्दादि ग्राह्य विषय से विरक्त होकर उनको निरोध करता है। इस दशा में विषयसंयोग का अभाव होने के कारण करण वर्ग विलीन हो जाता है, क्योंकि विषयों के बिना करण एक क्षण भी नहीं रह पाते। ये क्लेशहीन संस्कारसंचय करके देहान्त में विलीनकरण होकर निर्बीज समाधि को प्राप्त करते हैं और संस्कार बल के अनुसार सीमित काल तक कैवल्यावस्था

1- भूतेन्द्रियाणामन्यतममात्मत्वेन प्रतिपन्नास्तदुपासनया तद्वासनावासितान्तःकरणाः पिण्डपातानन्तरमिन्द्रियेषु भूतेषु वा लीनाः संस्कारमात्रावशेषमनसः षाट्कौशिकशरीररहिता विदेहाः। त०वै० पृ०58.

2- मनसो बहिर्वृत्तिः स्व शरीर इव बहिर्वस्तुन्यहिमताप्रतिष्ठाभावस्तादृशी बहिर्वृत्तिः कल्पिता वा-अकल्पिता च भवतिः। यो. वा. पृ. 362.

अनुभव करते हैं । वे ही विदेह होते हैं[1]। विदेहावस्था का उचित तथा युक्ति संगत दिग्दर्शन कराने का श्रेय आचार्य को ही है ।

प्रकृति लीनावस्था का उल्लेख सांख्यकारिका में करते हुए ईश्वरकृष्ण ने कहा है कि वैराग्य से युक्त तथा पुरुषतत्त्व के ज्ञान से रहित व्यक्ति को प्रकृतिलय प्राप्त होता है[2]। तत्त्वकौमुदीकार वाचस्पति मिश्र के अनुसार "प्रकृति" शब्द के ग्रहण से प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, पृथिवी इत्यादि भूत एवं इन्द्रियों का ग्रहण किया गया है । आत्मा समझ कर इनकी उपासना करने पर उपासक का इन्हीं में लय हो जाता है एवं कालान्तर में पुनः उत्पत्ति होती है[3]। आरण्य के अनुसार योगसूत्र में प्रकृतिलीन से तात्पर्य प्रधान अथवा मूल प्रकृति से ही है । भूतेन्द्रियादि से नहीं । क्योंकि असम्प्रज्ञात समाधि में क्षिप्त चित्त प्रकृति में ही लीन होता है । आरण्य प्रकृतिलयत्व का विवेचन करते हुए कहते हैं कि जब तत्त्व ज्ञानहीन, शून्यवत् तथा विलाभ होता है परन्तु पुरुषतत्त्व के साक्षात्कार न करने पर उसे ही परम गति समझ कर और अन्तर्मुख होकर वैराग्य के द्वारा साधिकार चित्त प्रकृति में लीन हो जाय, वही प्रकृति लीनत्व है[4] ।

1- स्थूलसूक्ष्मशरीरं, तल्लीना विदेहा ये तु पुरुषख्यातिहीनाः किन्तु दोषदर्शना देहधारणे विरागवन्तस्ते तद्वैराग्येण तद्विक्षेप च समाधिना सर्वकरणकार्य-निरुन्धन्ति, कार्याभावात् करणशक्त्यो न स्थातुमुत्सहन्ते, तस्मात् ताः प्रकृतौ लीयन्ते स्वेषामधिष्ठानिभूतेन स्थूलसूक्ष्मदेहेन सह न संयुज्यन्तिः भा. पृ.

2- वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात् । ऐश्वर्यादविघातो, विपर्ययात् तद्विपर्यासः । सां. का. 45.

3- प्रकृतिग्रहणेन प्रकृतिमहदहंकारभूतेन्द्रियाणि गृह्यन्तेः त0कौ. पृ0 287.

4- ये तु पुरुषख्यातिहीनाः किन्तु दोषदर्शनाद् देहधारणे विरागवन्तस्ते तद्वैराग्येण तद्विक्षेपेण च समाधिना सर्वकरणकार्य-निरुन्धन्ति; भा. पृ. 57.

प्रकृतिलीन एवं विदेहों में भी कुछ अन्तर है । प्रकृतिलीन अव्यक्त प्रकृति को सर्वोच्च उपास्य मान कर देहान्त के पश्चात् उसी में लीन हो जाते हैं । विदेह स्थूलदेहधारी तो नहीं होते हैं परन्तु लिंग शरीरधारी अवश्य होते हैं । प्रकृतिलीन सावरण ब्रह्माण्ड से बहिर्भूत तथा विदेह सावरण, ब्रह्माण्ड में अन्तर्भूत होते हैं । ऐश्वर्य की दृष्टि से भी प्रकृतिलीन विदेहों से कहीं अधिक ऐश्वर्यशाली होते हैं[1]।

विवेकख्याति की सिद्धि हो जाने पर चित्त चरिताधिकार हो जाता है । विदेह एवं प्रकृतिलीन सर्ववृत्तिशून्य एवं अपने संस्कारमात्र बचे हुए चित्त के द्वारा कैवल्यपद का-सा अनुभव करते हुए उस प्रकार के अपने संस्कारों के फलों को भोगते हैं । फलभोग पूर्ण होने पर उसी प्रकार से तबतक कैवल्य का अनुभव करते रहते हैं । जबतक कि उनका चित्त चरितार्थ न होने के कारण पुनः संसार में प्रादुर्भूत नहीं हो जाता है ।

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि विदेह एवं प्रकृतिलीन जिस कैवल्य पद का अनुभव करते हैं उसमें एवं वास्तविक कैवल्य में अन्तर है । दोनों की अवस्थाओं में समता यह है कि दोनों में ही चित्तवृत्तिहीन रहता है । वैरूप्य यह है कि प्रकृतिलीन एवं विदेह के कैवल्य अनुभव में चित्त साधिकार रहता है जबकि वास्तविक कैवल्य में चित्त साधिकार संस्कारों से सर्वथा हीन होता है[2]।

इस प्रकार से विदेहों एवं प्रकृतिलीनों को भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि होती है । इसके विपरीत योगियों की असम्प्रज्ञात समाधि उपाय

1- विदेहास्तु सावरण ब्रह्माण्डान्तर्गता इति भिद्यन्ते च पलिता(?)त्यैश्वर्यभोगाः, प्रकृतिलयास्तु तेभ्योऽपीशाः स्वसंकल्पमात्रनिमित्तस्वप्रधान निर्मलविषयभोगास्त ईश्वरकोट्य उच्यते । —भा. सू. वृ. पृ. 20.

2- अवृत्तिकत्वेऽपि कैवल्येन साम्येऽपि साधिकारसंस्कारशेषता च वैरूप्यम् ।तत्त्व. वै. पृ. 98

प्रत्यय होती है[1]। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा इन सब उपायों से उपाय प्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि योगियों की होती है[2]। श्रद्धायुक्त चित्त-वाला योगी ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है[3]। अतः सबसे पहले श्रद्धा को ही स्थान दिया गया है। चित्त का संप्रसाद अथवा अभिरुच्यात्मक वृत्ति ही श्रद्धा है[4]। यह कल्याणदात्री माता के समान योगी की योगकण्टकों से रक्षा करती है। चित्त में श्रद्धा होने पर योगी उत्साहयुक्त हो जाता है। इस उत्साह के द्वारा योगी अपने चित्त को समाधि से व्यतिरिक्त विषयों की ओर से पराङ्मुख रहता है। इस उत्साह के कारण योगी एक विषय पर अपना ध्यान केन्द्रित कर पाता है। विवेक स्मृति ही सर्वोत्तम ध्यान एवं साधन है।

चित्तस्मृति साधन में अन्य विषयों एवं संकल्पों का प्रवेश निषिद्ध करके एकमात्र ध्येय विषय के ध्यान का अनुव्यवसाय करता है[5]। वस्तुतः यही सर्वोच्च स्मृति साधन है। बौद्धदर्शन में भी स्मृति के माहात्म्य को स्वीकार किया गया है। उनके अनुसार भी स्मृति एवं सम्प्रजन्य के बिना चित्त का निरोध नहीं हो सकता है। शरीर एवं चित्त की जैसी अवस्था होती है उसकी प्रतिक्षण प्रत्यवेक्षा ही सम्प्रजन्य है[6]। स्मृति एकाग्र एवं अविलोल होने

1- उपायप्रत्ययो योगिनां भवति। यो. भाष्य. पृ. 60

2- श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्। यो. सू. 1-20.

3- श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। भगवद्गीता।

4- श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः अभिरुचिमती बुद्धिः। भा. पृ. 60.

5- पश्यन्नुदासीन्दृशा प्रपंचं संकल्पमुन्मूलय सावधानः। योगतारावली।

6- एतदेव समासेन संप्रजन्यस्य लक्षणम्।
यत्काय चित्तावस्थाया:प्रत्यवेक्षा मुहुर्मुहुः। बोधिचर्यावतार 5-108.

पर समाधि लाभ होता है । समाधि लाभ से प्रज्ञा उत्पन्न होती है एवं फलस्वरूप पदार्थों का यथार्थ ज्ञान योगिजनों को होता है । तद्भूतार्थ के ज्ञान से अर्थात् प्रकृति-पुरुष का विवेकज्ञान होने से कैवल्य की प्राप्ति होती है । श्रुति के अनुसार भी यही कैवल्य मार्ग के क्रमिक सोपान हैं[1]। धम्मपद में भगवान बुद्ध ने भी प्रतिपादित किया है कि शील, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा इन उपायों के द्वारा सम्पूर्ण दुःखों का नाश होता है ।

इन श्रद्धावीर्यादि उपायों के बार-बार अभ्यास से वह दृढ़भूमिक सविता विवेकख्याति हो जाती है[2]। इस अवस्था में प्रारब्ध व्यतिरिक्त सम्पूर्ण कर्मसंस्कार दग्धबीज हो जाते हैं । इसी की चरम गति अर्थात् ज्ञान रूलवीहित्य ही धर्ममेघ समाधि है ।

सत्त्वगुणात्मक विवेकख्याति से भी जब योगी विरक्त हो जाता है तब वह परवैराग्य की स्थिति होती है । परवैराग्य के द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि स्वाभाविकरूपेण हो जाती है[3]।

इस प्रकार से विदेह एवं प्रकृतिलीन भवप्रत्यय एवं अन्य योगिजन उपाय प्रत्यय के द्वारा असम्प्रज्ञात योग की स्थिति तक पहुँचते हैं ।

1- नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिंगात् ।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम । मुण्डकोपनिषद् 3-4.

2- स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः । यो. सू. 1-14.

3- तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् । यो. सू. 1-16

समापत्ति

एकाग्र भूमि में स्थित अर्थात् स्थितिप्राप्त चित्त की ध्येयाकार में परिपूर्णता ही समापत्ति है । समापत्ति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए आचार्य ने स्फटिक मणि का दृष्टान्त दिया है[1]। सूत्रकार के अनुसार राजस एवं तामस वृत्तियों के क्षीण हो जाने पर स्फटिक मणि के समान निर्मल चित्त की ग्राह्य, ग्रहण अथवा ग्रहीत विषयों में एकाग्र स्थिति प्राप्त कर तदाकाराकारित हो जाना ही समापत्ति है[2]। स्वच्छ स्फटिक मणि के सम्मुख जो भी विविध रंग रखे जायें, वह मणि भी उसी रंग का प्रतीत होने लगता है । इसी प्रकार चित्त भी जिस ध्येय को आलंबन बनाए, उसी के आकार से पूर्णतः आकारित हो जाता है । सम्पूर्णतया चित्त का ध्येयाकाराकारित हो जाना ही समापत्ति है ।

आरण्य के अनुसार ईश्वर प्रणिधान आदि साधनों के अभ्यास के द्वारा चित्त की अभीष्ट ध्येय पर निश्चल एवं एकाग्र स्थिति ही चित्त की स्थितिप्राप्ति है । इस स्थितिप्राप्त चित्त की समाधि को ही समापत्ति कहते हैं । आचार्य के अनुसार शुद्ध समाधि से समापत्ति का यही भेद है[3]। दूसरे शब्दों में समाधि तो चित्त का सार्वभौम अर्थात् क्षिप्तादि सभी भूमियों में रहने वाला धर्म है परन्तु केवल एकाग्र भूमिक समाधि ही समापत्ति की कोटि में आती है ।

विषयभेद से समापत्ति ग्राह्यविषयक, ग्रहण विषयक एवं गृहीतृविषयक

1- अभिजातस्येव स्वच्छस्य मणेरिव । भा. सू. 107.

2- क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः । यो. सू. 1-41.

3- द्रष्टव्य भा०यो० दर्शन (हरि०आ०) पृ० 85.

इस प्रकार त्रिविध है । ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता में ही सकल व्यक्त भाव पदार्थ अन्तर्मुख हो जाते हैं । प्रकृति के भेद से समापत्ति सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा एवं निर्विचारा इस प्रकार चतुर्विध है । सवितर्कादि समापत्तियों को ग्राह्य ग्रहण गृहीत के उपभेदों सहित वाचस्पति मिश्र ने आठ प्रकारों में विभक्त किया है । राघवानन्द सरस्वती एवं रामानन्दयति (मणिप्रभा) भी वाचस्पति मिश्र के मतानुसार समापत्तियों के आठ भेद मानते हैं । आचार्य एवं अन्य व्याख्याकारों के अनुसार चार भेद ही मान्य हैं ।

आचार्य के अनुसार ग्राह्य को आलंबन बनाने वाली समापत्ति द्विधा है । प्रथम सूक्ष्मभूत अथवा शब्दादि तन्मात्राओं को विषय बनाने वाली एवं द्वितीय पंचमहाभूतों को आलंबनविषय बनाने वाली । दूसरी प्रकार की समापत्ति के ही अन्तर्गत अर्थात् स्थूल तत्वों में ही विशभेद से अर्थात् भौतिक पदार्थ यथा गो, घट पटादि असंख्य पदार्थ आते हैं[1]। अर्थात् जब भूतसूक्ष्म, पंचमहाभूत अथवा घट पटादि असंख्य ग्राह्य विषयों के आलम्बन से उपरक्त चित्त ग्राह्याकार होकर ग्राह्य स्वरूप के आकार का प्रतिबिम्बित होता है तो वह ग्राह्यविषयक समापत्ति होती है । समापत्ति की प्रकृति के भेद से जब चित्त सूक्ष्म तत्वों के आलंबन से तदाकाराकारित होता है तब वह समापत्ति सवितर्का एवं जब स्थूल तत्वों से तदाकाराकारित हो तब सविचारा सम्प्रज्ञात समाधि होती है[2]।

1- ग्राह्यालंबनं द्विधा-भूतसूक्ष्मं तन्मात्राणि तथा स्थूलं पंचमहाभूतानि, स्थूलतत्वान्तर्गतो विशवभेदो घटपटादिभौतिकवस्तुनीत्यर्थः ।

2- स्तदेन वितर्कविचाराबद्धता समापत्तिर्व्याख्याता सवितर्का निर्वितर्का । तo वैo पृo 108.

इसी प्रकार ग्रहण अर्थात् इन्द्रियों के आलंबन से उपरक्त चित्त इन्द्रियालम्बनाकाराकारित होकर जब इन्द्रियस्वाकार-सा प्रतीत होता है तो वह ग्रहण विषयक समापत्ति होती है । ग्रहण के सम्बन्ध में आचार्य का कहना है कि ग्रहण से तात्पर्य चक्षुर्गोलक अथवा कर्णशष्कुली इत्यादि नहीं है वरन् इन्द्रियों में स्थित उनकी शक्तियों से है[1]। क्योंकि चक्षुर्गोलक इत्यादि ध्येय आलंबन तो ग्राह्य विषय हैं, वे ग्रहण के अन्तर्गत नहीं आते । अतः इन्द्रिय शक्ति को ही आलंबन बनाकर उससे उपरक्त चित्त जब आलंबनाकाराकारित हो जाए तब वह ग्रहण विषयक समापत्ति होती है । यह ग्रहण विषयक समापत्ति वाली सम्प्रज्ञात समाधि "आनन्दानुगत" है ।

इसी प्रकार जब ग्रहीता पुरुष अर्थात् अस्मिता रूपी आलंबन से उपरक्त चित्त गृहीतृपुरुषाकार होकर ग्रहीता पुरुष के स्वरूप से आकार का प्रतिभासित होता है तब वह ग्रहीतृविषयक समापत्ति होती है । पुरुष एवं बुद्धि इन दोनों के वस्तुतः भिन्न होने पर भी एकरूपता का अभिमान होना ही अस्मिता है । आरण्य के अनुसार इस गृहीतृविषयक समापत्ति का ग्रहीता, स्वरूपस्थ, या पुरुषतत्त्व नहीं है प्रत्युत बुद्धितत्त्व है । बुद्धि एवं पुरुष की एकत्वबुद्धि होने के कारण वह व्यावहारिक द्रष्टा अथवा ग्रहीता है । इस स्थिति में सात्त्विक वृत्ति के उत्कर्षतया उदीयमान होने के कारण चित्त पूर्णतः लीन नहीं होता है फलतः पुरुष का साक्षात्कार नहीं होता है । वृत्तिसारूप्य की स्थिति में "ज्ञानमहंजानामि" इस तद्रूप का अविशुद्ध द्रष्टाभाव ही व्यावहारिक द्रष्टा है । आचार्य के अनुसार इससे उच्चतर स्थिति अर्थात् पुरुष की स्वरूप स्वरूप में स्थिति ज्ञान के सम्यक् निरोध के उपरान्त उपलब्ध होती है ।

1- न त्विन्द्रियाणां गोलका ग्रहणविषयास्ते हि स्थूलभूतान्तर्गता एव, इन्द्रियशक्तय एव ग्रहणम् । भा. पृ. 108.

2- गृहीतापुरुषाकारा बुद्धिर्महानात्मा, स यः प्रतिमातिमात्रबोधे ज्ञातृत्व-कर्तृत्वभूतत्वबुद्धे राज्ञो मूर्ति सर्वचित्तव्यापारस्य द्रष्टृत्वस्वरूपात् स गृहीतृरूप इत्युच्यते । भा. पृ. 109.

स्थिति में निर्मल मणि के समान चित्त की ग्राह्य, ग्रहण एवं ग्रहीता में जो तत्स्थतदञ्जनता अर्थात् उनमें तदाकाराकारिता है, उसी को समापत्ति कहते हैं[1]।

प्रकृति भेद से समापत्ति के भेदों में सर्वप्रथम सवितर्का समापत्ति परिगणित की जाती है। सूत्रकार के अनुसार शब्द, अर्थ और उसके ज्ञान इन तीनों से मिश्रित समापत्ति सवितर्का है[2]। वस्तुतः शब्द, अर्थ एवं ज्ञान ये तीनों ही सर्वथा भिन्न हैं परन्तु इन तीनों में अभेद की विकल्पात्मक वृत्ति साधारणतया सभी को होती है। शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प को सरल शब्दों में समझाते हुए आचार्य कहते हैं कि गो यह शब्द कर्णेन्द्रिय से ग्राह्य एवं वागेन्द्रिय में स्थित है अर्थात् गो शब्द वह वाक् से बोला और कान से सुना जाता है। गो यह अर्थ चक्षु और त्वचा से ग्राह्य है अर्थात् आँखों से देखा और हाथ से स्पर्श किया जा सकता है। तथा वह गोष्ठ में स्थित है। गो यह ज्ञान चित्त में स्थित रहता है[3]। अतः गो शब्द, गो अर्थ, एवं गो ज्ञान ये तीनों सर्वथा भिन्न हैं फिर भी विकल्प से इन तीनों में अभेद की प्रतीति होती है। साधारणतया चिन्तन शब्दार्थज्ञान-विकल्प से संकीर्ण ही रहता है। विकल्प से संकीर्ण रहने के कारण यह चिन्तन योग की उच्चभूमियों के लाभ में सहायक नहीं होता है। गो विषय में समापन्न चित्तवाले योगी को गो-सम्बन्धी समाधिप्रज्ञा उत्पन्न होती है जिसका स्वरूप इस प्रकार होता है — यह मेरी गाय है, इसका रंग सफेद है इत्यादि। यह प्रज्ञा शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से मिश्रित रहने के कारण सवितर्का समापत्ति कहलाती है। वस्तुतः योगी समापत्ति के लिए गवादि सामान्य विषयों को आलम्बन नहीं बनाते हैं, प्रत्युत उनके आलंबन

1- तदेवाभिजातमणिकल्पस्य चेतसो ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु : यो. भा. सू. 1-41.
2- शब्दार्थज्ञानविकल्पैःसंकीर्णा सवितर्का समापत्तिः यो. सू. 1-42.
3- गौरितिशब्दः कर्णग्राह्यो वागिन्द्रियस्थितःगौरित्यर्थः चक्षुस्त्वगिन्द्रिय-ग्राह्यो गोष्ठादौ स्थितः गौरितिज्ञानं चेतसि। भा. वृ. 109

सदैव तत्त्वविषयक होते हैं । आचार्य के अनुसार स्थूल विषयों में चित्त का शब्दार्थज्ञान के विकल्प से संकीर्ण होकर तदाकाराकारित होना ही सवितर्का समापत्ति है[1]।

स्मृति की परिशुद्धि हो जाने पर अपने ज्ञानात्मक रूप से शून्य जैसी केवल अर्थ को ही प्रकाशित करने वाली निर्वितर्का समापत्ति होती है[2]। यह परम्प्रत्यक्ष है । यही आगम और अनुमान का बीजभूत कारण है इसी से पदार्थों का प्रत्यक्ष करके आगम और अनुमान उत्पन्न होते हैं[3]। निर्वितर्का समापत्ति का स्पष्ट रूप से विवेचन करते हुए आरण्य कहते हैं कि साधारणतया हमें शब्दज्ञान के साथ अर्थ और अर्थज्ञान के साथ शब्द का स्मरण होता है । क्योंकि शब्द और अर्थ का साहचर्य सम्बन्ध हमारे मन में सदैव रहता है । वस्तुतः दोनों भिन्न होते हुए भी साहचर्य संस्कार के कारण दोनों का स्मृति सांकर्य होता है । यदि शब्द को भूलकर केवल अर्थमात्र का चिन्तन किया जाये तो स्मृतिसांकर्य समाप्त हो जाता है । सतत अभ्यास के द्वारा शब्द के बिना भी अर्थ का ध्यान संभव हो जाता है । शब्द के बिना अर्थ का ध्यान ही स्मृति परिशुद्धि है ।

आरण्य के अनुसार शब्द के आश्रय के बिना जो ज्ञान होता है वही यथार्थज्ञान है । श्रुतानुमानजनित ज्ञान तथा शब्द पर आश्रित ज्ञान विकल्पयुक्त होने के कारण भूत (परसेप्चुअल फैक्ट) नहीं होता है प्रत्युत शब्दाश्रय शून्य केवल अर्थमात्र रूप में प्रकाशित होने वाला ज्ञान ही भूत ज्ञान होता है। स्थूल अवयवी निर्वितर्का समापत्ति का विषय बनता है । इस सम्बन्ध में वैनाशिक बौद्धों का मत कि बाह्य पदार्थ मूलतः शून्य एवं असत् होते हैं,

---

1- स्थूलविषयेदृशया प्रज्ञया परिपूर्णस्य चेतसो या समापन्नता सा सवितर्केति भा. पृ. 111.

2- स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का । यो. सू. 1-43.

3- तत्परं प्रत्यक्षम् । तच्च श्रुतानुमानयोर्बीजम् । ततःश्रुतानुमाने प्रभवतः यो. भाष्. 1-43.

असंगत सिद्ध होते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जो जो पदार्थ उपलब्ध होते हैं उन सब में अवयवीपन की गंध है, अतः अवयवी अवश्य होता है जो कि बड़े या छोटे इत्यादि रूपों से व्यवहृत होता है और यही निर्वितर्का समापत्ति का विषय बनता है[1]।

आचार्य हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार समाधि की ज्यों की त्यों प्रतिमूर्तिरूप अवस्था ही निर्वितर्का है और समाधिज ज्ञान को भाषा के द्वारा अनुभव करना सवितर्का है[2]। स्थूल विषयों का चरम सत्यज्ञान निर्वितर्का समापत्ति में होता है, क्योंकि चित्त को सम्यक्तया स्थिर कर तथा सभी विकल्पों से रहित ज्ञान ही निर्वितर्का समापत्ति में उपलब्ध होता है ।

जिस प्रकार स्थूल विषयों को ध्येय बनाने वाली समापत्ति सवितर्का एवं निर्वितर्का होती है उसी प्रकार सूक्ष्म विषयों को ध्यानालंबन बनाने वाली समापत्ति सविचारा और निर्विचारा कहलाती है । उनमें से अभिव्यक्त हुए धर्मों वाले तथा देश, काल और निमित्त के ज्ञान से विशिष्ट सूक्ष्म भूतों में जो समापत्ति होती है, वही सविचारा समापत्ति है[3]। शान्त, उदित तथा अव्यपदेश्य, इस धर्मत्रय के द्वारा अनवच्छिन्न सर्वधर्मानुपाती सर्वधर्मात्मक एवं सर्वतः इस प्रकार की समापत्ति निर्विचारा है[4]। जिस प्रकार स्थूल-ध्येय विषय में शब्द संकेतादि का विकल्प अथवा विकल्पहीनता सवितर्का एवं निर्वितर्का समापत्तियों का नियामक है उसी प्रकार सूक्ष्म ध्येयविषय में देशादि के अनुभव का मिश्रण अथवा अमिश्रण सविचारा और निर्विचारा का विभाजक है । सविचारा और निर्विचारा में विचार शब्द का अर्थ भाष्यकार के अनुसार सूक्ष्म विषय आभोग ही है । सविचारा में देश विशेष से अवच्छिन्ना

1- यदुपलभ्यते तत्तदवयवित्वेनाघ्रातम् तस्मादस्त्यवयवी यो महत्त्वादिव्यवहारापन्नः समापत्तेर्निर्वितर्काया: विषयो भवति । यो. भा. 1-43.

2- पात० योग० दर्शन (हरि०आ०) पृ. 91

3- तत्र भूतसूक्ष्मेष्वभिव्यक्तधर्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु, या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते । यो. भा. सू. 1-44

4- या पुनः सर्वथा सर्वतः शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेषु: यो. भा. सू. 1-44

विषयक ज्ञान होता है । परन्तु निर्विचारा में ज्ञान सार्वदैशिक होता है । उसी प्रकार वर्तमान काल में उचित ज्ञान के द्वारा अवच्छिन्न न होकर भूतकाल, भविष्यकाल एवं वर्तमान इन तीन अवस्थाओं के क्रम के बिना ही ज्ञान होता है । इसी प्रकार सविचारा समापत्ति में सदृश किसी एक धर्मरूप निमित्त विशेष के द्वारा अवच्छिन्न न होकर प्रज्ञा सार्वधार्मिक होती है । सूक्ष्म विषय के जितने भी परिणाम हो सकते हैं उन सब धर्मों में अनतिक्रान्त शक्ति वाली प्रज्ञा ही सविचारा नुपाती कहलाती है[1]।

आचार्य ने समापत्ति में चारों प्रकारों को सूर्य का दृष्टान्त देकर अत्यन्त सरलता से समझाया है । आचार्य के अनुसार जब सवितर्का समापत्ति में सूर्य को आलंबन बनाया जाए तो सूर्य सम्बन्धी सब ज्ञान यथा आकार, दूरी, उपादान आदि ज्ञात होता है । सूर्य गोल है आदि शब्दादि से संकीर्ण ज्ञान अर्थात् विकल्पात्मक ज्ञान होने के कारण जब चित्त उस संकीर्ण विकल्पात्मक ज्ञान से उपरक्त होता ह तो वह सवितर्का समापत्ति होती है ।

निर्वितर्का समापत्ति में सूर्य को आलंबन बनाने पर केवल सूर्य का स्वरूप उपलब्ध होता है एवं अन्य सभी विषयों का विस्मरण हो जाता है । स्थूलविषयक शब्दहीन चिन्तन निर्वितर्क ध्यान होता है । इस ध्यान में जब चित्त की तदाकाराकारितता होती है तब वही निर्वितर्का समापत्ति होती है ।

विकल्पशून्य ध्यान द्वारा सूर्यरूप का साक्षात्कार होने के अनन्तर उसकी सूक्ष्मावस्था की उपलब्धि करने की इच्छा से प्रक्रिया विशेष द्वारा

1- वितर्कः चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः सूक्ष्मो विचारः
यो. भा. सू. 1-17.

चित्त को स्थिर करने पर सूर्यरूप की परसूक्ष्मावस्था का ज्ञान होता है । सविचारा समापत्ति शब्दार्थज्ञान विकल्प से संकीर्ण होती है । आचार्य हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार केवल तन्मात्र ही नहीं वरन् तन्मात्र, अहंकार, बुद्धि और अव्यक्त ये सभी सूक्ष्म पदार्थ निर्विचारा के विषय है । शब्दादि की संकीर्ण स्मृति समाप्त हो जाने पर केवल सूक्ष्म विषयज्ञान को प्रकाशित करने वाली समाधि होती है । विकल्पहीन सम्भावनाओं से सूक्ष्म विषय में चित्त की परिपूर्णता ही निर्विचारा समापत्ति है ।

***

चतुर्थ अध्याय

योग में ईश्वर

चतुर्थ अध्याय

योग में ईश्वर

सांख्य और योग में प्रायः सभी तत्त्वों पर मतैक्य होते हुए भी एक महत्त्वपूर्ण अन्तर ईश्वर के प्रश्न को लेकर है। इसी कारण सांख्य को निरीश्वरवादी एवं योग को ईश्वरवादी अर्थात् सेश्वर सांख्य कहा जाता है। योगदर्शन में ईश्वर का भी समावेश किया गया है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि योग में सांख्य के पच्चीस तत्त्वों के अतिरिक्त और एक छब्बीसवाँ तत्त्व है। वस्तुतः योगदर्शन में भी सांख्य के ही समान 25 तत्त्व हैं। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने ईश्वर का निरूपण करते हुए उसे एक प्रकार का पुरुष ही बताया है। "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः"[1]। अर्थात् ईश्वर पुरुष विशेष ही है, तद्व्यतिरिक्त अन्य कोई छब्बीसवाँ तत्त्व नहीं है। क्लेश= अविद्या आदि पुण्य और पापकर्म अर्थात् कर्मों के संस्कार हैं कर्मफल ही विपाक है तथा उस विपाक के अनुरूप समस्त वासनाएँ आशय हैं।

योग का ईश्वर अविद्यादि क्लेशों, धर्माधर्मरूप कर्मों, उनके विपाक अर्थात् फलों एवं उनसे बनने वाले वासना संस्कारों से अपरामृष्ट है[2]। तात्पर्य यह है कि अन्य पुरुषों के समान ईश्वर में उनका उपचार नहीं होता है। अन्य सभी पुरुष किसी न किसी बंधन से आबद्ध रहते हैं परन्तु ईश्वर ही

1- क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः । यो. सू. 1-24.

2- मुक्तपुरुषविशेषो यस्त चित्तं सदैव मुक्तमित्यस्य प्रधानपुरुष व्यतिरिक्तता भा. पृ. 64.

एतस्मादीश्वरबुद्धिसत्त्वप्रकर्षावाचकाच्छास्त्रात् एतद्मात्तिशायोन। तदेव पृ. 7।

एकमात्र ऐसा पुरुष है जो कभी भी किसी बंधन से आबद्ध नहीं होता है। यह सदैव मुक्त रहता है। ईश्वर प्रकृष्ट तत्त्व है। ईश्वर का ऐश्वर्य साम्य और अतिशायता से युक्त है अर्थात् ईश्वर के ऐश्वर्य के समान अथवा उससे अधिक अन्य किसी का ऐश्वर्य नहीं है। यहाँ पर ऐश्वर्य की पराकाष्ठा है, वही ईश्वर है[1]। क्योंकि महत् और महत्तर के होने पर महत्तम की सत्ता अनिवार्य हो जाती है।

ईश्वर के सार्वकालिक उत्कर्ष में शास्त्र प्रमाण हैं एवं प्रकृष्टसत्त्व ईश्वरोपाधि शास्त्र में प्रमाण है। अतः शास्त्र एवं ईश्वरोत्कर्ष में अनादि सम्बन्ध है। ईश्वर में सर्वज्ञता का बीज अपनी पूर्णता तक पहुँचा हुआ है[2]। वह कर्मविधान से परे है। ईश्वर कालाबाधित है अर्थात् काल से अवच्छिन्न नहीं है अतः वह पूर्ववर्ती पुरुषों का भी गुरु है[3]। पतंजलि के अनुसार वह सत्य का उपदेष्टा एवं महान गुरु है। विश्व के लगभग सभी दार्शनिक गुरु के रूप में ईश्वर को सदैव स्वीकार करते हैं।

अन्य पुरुषों से उपर्युक्त अन्तर ईश्वर में होते हुए भी वह पुरुष से भिन्न कोई अन्य तत्त्व नहीं है। इन सभी प्रकार के विभिन्नों एवं वैलक्षण्यों के होते हुए भी ईश्वर "पुरुषविशेष" ही है[4]।

1- तस्माद् यस्य साम्यातिशयैर्विनिर्मुक्तमैश्वर्यं स ईश्वरः स च पुरुषविशेष इति। यो. भा. पृ. 72.

2- तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। 1-25.

3- पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। 1-26

4- पुरुषविशेष ऐवेश्वरः तथा चेश्वरस्य पुरुषेऽन्तर्भावस्तदुपाधेः प्रधान इति। यो. भा. पृ. 62.

ईश्वर का वाचक शब्द प्रणव अर्थात् ओम् है[1]। इस प्रणव का जप करने एवं उसके अर्थ की भावना करने से चित्त एकाग्र होता है[2]। एकाग्र चित्त के द्वारा समाधिलाभ शीघ्र संभावित होता है । मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मरूप चरम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आत्मा को शर एवं प्रणव को धनुष बताया गया है --

प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।। (मुण्डकोपनिषद् 2/2/4)

माण्डूक्योपनिषद् में भी "ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव ।" अर्थात् सकल भूत, वर्तमान एवं भविष्य ओम् रूप अक्षर ही है । त्रिकाल से परे भी सब कुछ ओंकार रूप ही है । इस प्रकार ओम् शब्द की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है । इसी प्रकार से श्रीमद्भगवद्गीता में भी ओम् का माहात्म्य स्वीकृत किया गया है[3] । योगदर्शन में ईश्वर की क्रियात्मक उपयोगिता यह है कि योगी की उत्कृष्ट भक्ति से प्रसन्न किया गया ईश्वर संकल्पमात्र से ही योगमार्ग में आने वाले सभी कंटकों को दूर कर देता है । तथा समाधि मार्ग को प्रशस्त करता है । अतः योगियों के लिए ईश्वर एक शक्तिशाली संबल के समान है । यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि ईश्वर कैवल्यमार्ग में आए विघ्नों का निवारण तो कर देता है परन्तु वह साक्षात् कैवल्य का दाता नहीं है ।

1- तस्य वाचकः प्रणवः 1-27.

2- तज्जपस्तदर्थभावनम् । 1-28.

3- ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् । गीता - 8/13.

सूत्रकार पतंजलि के अनुसार योगदर्शन में ईश्वर को कोई महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है । उसे कोई महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व नहीं प्रदान किया गया है । वह सृष्टि एवं प्रलय की प्रक्रिया से भी सम्बद्ध नहीं है । योग की तत्त्वतालिका में भी ईश्वर को कोई स्थान नहीं प्राप्त है । इस आधार पर डा. राधाकृष्णन् का मत है कि योगदर्शन का शरीरधारी ईश्वर उक्त दर्शन के शेष भाग के साथ अत्यन्त शिथिलतापूर्वक सम्बद्ध है । क्योंकि एक योगी का अन्ततः लक्ष्य तो प्रकृति-पुरुष का विवेकज्ञान ही है, ईश्वर के साथ सन्निधान नहीं । ईश्वर न तो इस जगत का सृष्टा ही है और न ही संरक्षक । रिचर्ड गार्बे महोदय तो यहाँ तक मानते हैं कि ईश्वर का प्रतिपादन करने वाले सभी सूत्र ग्रन्थ के अन्य भाग से सम्बद्ध नहीं हैं । यही नहीं वरन् वे इस दर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों के भी विरोधी हैं । मैक्समूलर का भी यही मत है कि ईश्वर सृष्टिकर्ता के पद तक पहुँचा ही नहीं । वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि आस्तिक्य बुद्धि वाले भारतीय मानस को योगदर्शन के दुष्कर मार्ग की ओर आकर्षित करने के लिए ही ईश्वर की कल्पना कर ली गयी है । शैव एवं वैष्णव दर्शन के प्रभाव को कुछ कम करने के लिए भी ईश्वर की कल्पना एक महत्वपूर्ण सोपान सिद्ध हुई है । ईश्वर को स्वीकार करके योगदर्शन पुरुष बहुत्ववादी सांख्य और अद्वैत वेदान्त के मध्य एक कड़ी का कार्य करता है ।

योगसूत्र में प्राप्त इस विवादास्पद स्थिति से ईश्वर को उबारने के लिए भाष्यकार व्यास ने कुछ और प्रयत्न किए एवं ईश्वर को अधिक व्यावहारिक रूप प्रदान किया । व्यास ने प्रकृष्टसत्त्व में स्थित शास्त्र एवं ईश्वर के शाश्वतिक उत्कर्ष का प्रतिपादन किया ।

ईश्वरचित्त में वर्तमान जो उत्कर्ष अर्थात् आधिभूतत्ता या सर्वज्ञता है वे ही मोक्षशास्त्र के मूल में भी है । इनका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध

भी अनादि है अर्थात् जैसे अनादिमुक्त ईश्वर है वैसा अनादिमोक्षशास्त्र भी है। यह कहना ठीक ही है कि ऐसे बहुत शास्त्रसवाच्य हैं जिनका नाश ईश्वर द्वारा कृत होना तो दूर रहा उनके निर्माता बुद्धिमान और चरित्रवान व्यक्ति भी नहीं है। सभी प्रचलित शास्त्र इस मोक्ष विद्या का आलम्बन करके ही रचे गये हैं।

परवर्ती व्याख्याकारों ने ईश्वर को और अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। तत्त्ववैशारदी के रचयिता वाचस्पति मिश्र ने तो ईश्वर को सृष्टि और प्रलय की प्रक्रिया से भी सम्बद्ध कर लिया है। वाचस्पति मिश्र का मत है कि प्रकृति ईश्वर से अधिष्ठित होकर ही सृष्टि और प्रलय की प्रक्रिया को पूर्ण करती है। विज्ञानभिक्षु ने भी योगसारसंग्रह में इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि सब प्रकार से चैतन्ययुक्त ध्यानों में ईश्वर का ध्यान सर्वश्रेष्ठ है। आचार्य हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार ईश्वर के प्रणिधान से समाधिलाभ में सहायता मिलती है और अन्ततः योगी का अंतिम लक्ष्य अर्थात् कैवल्यप्राप्ति होती है।

भाष्यकार व्यास और उनके परवर्ती व्याख्याकारों ने ईश्वर को एक स्थिर रूप प्रदान करके उसके कार्यक्षेत्र को और अधिक विस्तृत कर दिया है। योगसूत्रों में प्राप्त इस विवादास्पद स्थिति से ईश्वर को बचाने की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण चरण सिद्ध हुआ। भाष्यकार एवं परवर्ती व्याख्याकारों के प्रयास के फलस्वरूप आज योगदर्शन में ईश्वर की सत्ता अपरिहार्य हो गयी है। पुरुष विशेष के रूप में ईश्वर योगदर्शन का अभिन्न अंग बन गया है।

...

पंचम अध्याय

योग साधना के उपाय

क्रियायोग, योगसाधना के अंग, तथा

अन्य सिद्धान्त

===

पंचम अध्याय

योग-साधना के उपाय

योग साधना के उपायों का विवरण साधनपाद में है । परन्तु प्रथम समाधि पाद में भी चित्तवृत्तियों के विशद विवेचन के ठीक पश्चात ही चित्त निरोध के उपाय, स्वरूप अभ्यास एवं वैराग्य इनका निर्देश किया गया है[1]। भगवद्गीता की भी अनुसार चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा होता है[2]।

साधनपाद के प्रारंभ में सभी टीकाकारों ने यह स्पष्ट किया है कि ये उपाय मध्य अथवा मन्द अधिकारियों के लिए हैं[3]। राजमार्तण्ड वृत्ति में भोज ने अन्य उपायों के साथ ही ईश्वरप्रणिधान को भी एक सरल उपाय के रूप में सम्मिलित कर लिया है[4]। विज्ञानभिक्षु ने योगियों के उत्तम, मध्यम एवं मंद इस प्रकार से तीन भेद किये हैं एवं समाधिपाद के वर्णित अभ्यास एवं वैराग्य ये उपाय उत्तम अधिकारियों के लिए माने हैं । आचार्य आरण्य के अनुसार अभ्यास एवं वैराग्य ही दो मुख्य उपाय हैं जिनके द्वारा सम्प्रज्ञात अथवा असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि हो सकती है । अन्य सभी उपायों का इन दो में अन्तर्भाव हो जाता है ।

1- अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः यो. सू. 1-12.

2- अभ्यासेन हि कौन्तेय । वैराग्येण च गृह्यते । भगवद्गीता- 6/35.

3- मनःप्रधानसाधनानि तथाअभ्यासेन वैराग्येण च सिद्धस्य समाधेरवान्तरभेदाःतत्फलसूत्रं चेत्यवेति योगः प्रथमे पादे उद्दिष्टः, व्युत्थितस्य निरन्तरध्याना-भ्यासवैराग्याभावनाअसमर्थस्य चेतसः कैर्योगानुकूलक्रियाआचरणैर्योगः सम्भवेदिति । भा. पृ. 138.

4- सुगमोपाय प्रदर्शनपरत्वेश्वरस्य स्वरूपप्रमाणप्रभाववाचकोपासनाक्रमं तत्फलानि च निर्णीय । —रा. मा.सू.पृ. 28.

अभ्यास एवं वैराग्य में से क्रमोल्लेख के अनुसार अभ्यास पहले एवं वैराग्य बाद में आता है।

अभ्यास का लक्षण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि स्थिति के लिये किया गया प्रयत्न ही अभ्यास है[1]। स्थिति शब्द को लेकर व्याख्याकारों में कुछ मतभेद है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार राजस एवं तामस वृत्तियों से रहित चित्त की प्रशान्तवाहिता ही स्थिति है[2]। राघवानन्द सरस्वती के मतानुसार भी "अवृत्तिकस्य चित्तस्य" में नञ् प्रत्यय का प्रयोग अल्प के अर्थ में हुआ है[3]। भिक्षु के अनुसार भी "अवृत्तिकस्य" के द्वारा चित्त की वृत्तिशून्य अवस्था का वर्णन नहीं किया गया है। यहाँ पर आरण्य का इन सभी से मतभेद है। आचार्य के अनुसार वृत्तिशून्य चित्त का प्रशान्तवाहिता अर्थात् निरुद्ध वृत्तियों के प्रवाह का ही नाम स्थिति है[4]।

आरण्य का यह मत व्यावहारिक एवं तार्किक सभी दृष्टियों से अधिक युक्तियुक्त एवं रोचक प्रतीत होता है। क्योंकि योगियों का अंतिम असम्प्रज्ञात योग ही है और उसी की प्राप्ति के लिए उपायों का कथन किया जा रहा है। असम्प्रज्ञात योग को आसन्न करने वाली स्थिति निरुद्धवृत्त्यात्मक ही है। फलतः सूत्रकार एवं भाष्यकार को निरुद्धवृत्ति की प्रशान्तवाहिता, यह अर्थ ही अभिप्रेत है। इस स्थल पर आचार्य के विचार सर्वथा

1- तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। यो. सू. 1-13.

2- राजसतामसवृत्तिरहितस्य प्रशान्तवाहिता विगलितरजस्तमस्कवृत्तिवाहितकाग्रता स्थितिः। त0 वै0 पृ0 45-46.

3- तत्तात्पर्यं मं स्वीकृत्याह- अवृत्तिकस्येति। पातंजलरहस्यम्, पृ. 45.

4- अवृत्तिकस्य निरुद्धवृत्तिकस्य चित्तस्य या प्रशान्तवाहिता निरुद्धावस्थायाः प्रवाहः सा हि मुख्या स्थितिः। भा. पृ. 45.

मौलिक एवं अन्य व्याख्याकारों से पूर्णतया भिन्न हैं । इस स्थिति को स्थायी रूप से बनाये रखने के लिए जो बारम्बार प्रयत्न किया जाता है, वही अभ्यास है ।

वह अभ्यास, चिरकाल तक, निरन्तर, एवं सत्कार या आदरसहित किया जाने पर दृढ़भूमि होता है[1]। श्रुति के अनुसार भी जो ज्ञान श्रद्धा तथा सारयुक्त शास्त्रज्ञान के साथ अर्थात यथार्थ रीति से किया जाता है, वही अधिक वीर्यवान होता है[2]।

चित्तवृत्तिनिरोध का दूसरा एवं अधिक जटिल तथा दुस्तर उपाय वैराग्य है । मायामय इस जगत में वैराग्य निश्चय ही कठोर अभ्यास से प्राप्त किया जा सकता है । कालिदास ने भी कुमारसंभव में लिखा है— "विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः" । अर्थात विकार का कारण विद्यमान रहने पर भी जिनके मन में विकार नहीं उत्पन्न होता वे ही धीर हैं । वैराग्य दो प्रकार का होता है, अपर वैराग्य एवं पर-वैराग्य । ऐहिक एवं पारलौकिक विषयों से विरक्त चित्त का वशीकार नामक वैराग्य होता है[3]। आरण्य के अनुसार भी चित्त की जो वितृष्णा भाव से स्थिति है, वही वशीकार संज्ञक वैराग्य है[4]।

आचार्य ने अत्यन्त सुन्दर रीति से वशीकार की तीन पूर्वावस्थाओं का

1- स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः । यो. सू. 1-14.

2- यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरम्भवति । छान्दोग्य-1/1

3- दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञावैराग्यम् । यो. सू. 1-15.

4- चित्तस्य वितृष्णभावेनावस्थितिस्तद् वशीकारारण्यं वैराग्यम् वशीकारस्य तिस्रः पूर्वावस्थाः तद् यथा- यतमान- व्यतिरेक- एकेन्द्रियमिति । भा. पृ. 47.

वर्णन किया है । वशीकार एकाएक सहज ही तो प्राप्त नहीं किया जा सकता है । वस्तुतः वह क्रमिक सोपानों के रूप में ही पाया जा सकता है । ये क्रमिक सोपान ही तीन पूर्वावस्थाएं हैं जिनका सरल स्पष्टीकरण आरण्य ने किया है । ये तीन पूर्वावस्थाएं यतमान्, व्यतिरेक एवं एकेन्द्रिय हैं । रागों को वश में करने के लिए जो चेष्टा की जाती है, वह यतमान वशीकार है[1]। जब कुछ विषयों में वैराग्य सिद्ध हो जाए एवं कुछ विषयों में शेष हो तब व्यतिरेक से अवधारण होने के कारण वह व्यतिरेक वशीकार होता है[2]। सबसे अन्त में राग अत्यन्त क्षीण होकर स्थित रहता है एवं उस क्षीण राग का भी नाश कर दिया जाए तो वह एकेन्द्रिय वशीकार है[3]। इस प्रकार वशीकार संज्ञक वैराग्य का सरल स्पष्टीकरण आरण्य ने किया है ।

लौकिक एवं पारलौकिक इस भेद से इन्द्रिय ग्राह्य विषय दो प्रकार के होते हैं । स्त्री, अन्न, पान, ऐश्वर्यादि लौकिक विषय हैं । स्वर्ग, विदेह लयत्व एवं प्रकृतिलयत्व ये पारलौकिक विषय हैं । विषयों के प्रति केवल उपेक्षा-बुद्धि ही वैराग्य नहीं है, क्योंकि किन्हीं-किन्हीं मानसिक रोगों के कारण अथवा कभी कोई विषय प्राप्त करने की सामर्थ्य न होने पर भी विषय के प्रति उपेक्षा-बुद्धि हो जाती है । परन्तु वह वैराग्य नहीं है । वैराग्य के लिए आवश्यक है कि पहले विषय के दोषों को समझ लिया जाए एवं तत्पश्चात् विषयों अभ्यास द्वारा क्रमशः ही उसमें विरक्तिभाव जागृत हो । लौकिक एवं पारलौकिक

1- रागोत्पाटनाय चेष्टमानता यतमानम् । भा. पृ. 47.

2- केषु चिद् विषयेषु विरागः सिद्धः केषु चिच्च साध्य इति यत्र व्यतिरेकेणाव-धारणं तद् व्यतिरेकसंज्ञम् । भा. 47.

3- ततः परं यदेकेन्द्रिये मनस्यौत्सुक्यमात्रेण क्षीणो रागस्तिष्ठति तदेकेन्द्रियेण तादृशस्यापि रागस्य नाशाद् वशीकारः सिद्ध्यतीति । भा. पृ. 47.

विषयों के प्रति होने वाला वैराग्य अपरवैराग्य है तथा उससे भी श्रेष्ठ वैराग्य दूसरा अर्थात् परवैराग्य है । यह परवैराग्य गुणवैतृष्ण्यरूप का होता है । अपरवैराग्य सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होने के फलस्वरूप विवेकख्याति के द्वारा जब पुरुष का साक्षात्कार होता है, तब गुणों के प्रति जो वितृष्णा होती है, वही परवैराग्य है[1]।

परवैराग्य ज्ञान की पराकाष्ठा है । परवैराग्य के पश्चात् से कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता है । योगी को ज्ञातव्य जो कुछ भी है, सभी का ज्ञान हो जाता है । पाँचों क्लेशों का नाश हो जाता है । जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है[2]।

परमार्थ का ज्ञान ही संपूर्ण दुःखसमूह का निवारक होता है । जिस ज्ञान से दुःख की सर्वथा निवृत्ति होती है वही परम ज्ञान है अथवा ज्ञान की पराकाष्ठा है । योग का अन्तिम लक्ष्य कैवल्य इस परवैराग्य का नान्तरीयक अर्थात् नियतपरवर्ती है[3]।

1- तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् । यो. सू. 1-16.

2- यस्योदये प्रत्युदितख्यातिरेवम्मन्यते, प्राप्तं प्रापणीयं, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमः । यो. भा. पृ. 50.

3- ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति । यो. भा.

* * *

क्रियायोग

योग या चित्त स्थैर्य को उद्देश्य कर जो क्रियाएं की जाती हैं अथवा जो क्रियाएं या कर्म योग के गौण साधक होते हैं वही क्रियायोग हैं[1]।

क्रियाओं का आश्रय लेकर योग सिद्ध करना ही क्रियायोग है[2]। क्रियायोग का विधान योगशास्त्र में प्रवेश करने के इच्छुक मध्यम अधिकारियों के लिए किया गया है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार समाहित चित्त एवं पूर्वजन्म में योगसाधना किये हुए उत्तम अधिकारियों के लिए समाधिपाद में अभ्यास एवं वैराग्य इन उपायों को बताया गया है। परन्तु विक्षिप्त चित्तवाले एवं योगसाधना के लिए सर्वथा अपरिचित एवं नवीन मध्यम अधिकारियों के लिए अभ्यास और वैराग्य ये उपाय अत्यन्त दुष्कर हैं। अतः उनके लिए सरल उपाय स्वरूप क्रियायोग का कथन किया गया है। जो अधम साधक इस क्रियायोग को करने में भी असमर्थ हो जाते हैं उनके लिए अष्टांगयोग का निर्देश किया गया है[3]।

भास्वती में जो अधिकारी निरन्तर ध्यान का अभ्यास एवं वैराग्य की भावना करने में असमर्थ होते हैं, उन्हीं के लिए इस क्रियायोग का चयन किया गया है। अविद्यादि पंच क्लेशों को क्षीण करके समाधि की भावना

1- कर्मविरत्येयोगमुद्दिश्य कर्माचरणं क्रियायोगः

2- क्रियैव योगः क्रियायोगः योगसाधनत्वात। त०वै० पृ० 138.

3- पूर्वपादे ह्युत्तमाधिकारिण ऽभ्यासवैराग्ये एव योगयोः साधनमुक्तं, ततश्च मध्यमाधिकारिणां तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानान्यपि केवलानि साधनान्येतत्पादस्यादावुक्तानि, अतः परं मन्दाधिकारिणां यमादीन्यपि योगसाधनानि वक्तव्यानि ज्ञानसाधनप्रसंगेनेत्यभिप्रेत्याह। यो. वा. पृ. 242.

कराना ही इस क्रियायोग का प्रयोजन है ।"कर्म प्रधानतः तीन प्रकार के हैं— तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान[1]।

"नातपस्विनो योगसिद्ध्यति" योगभाष्य में उद्धृत यह पंक्ति प्रमाण है कि अतपस्वी योगसिद्धि नहीं कर सकता है । अनादिकाल से चले आये क्लेश एवं कर्म इनके संस्कारों के चक्र में लिप्त चित्त का मल तपस्या के बिना शुद्ध नहीं हो सकता है[2]। रजस् एवं तमस् से अभिभूत अतः इस कारण अशुद्ध एवं मलयुक्त चित्त किस प्रकार से शुद्ध होता है, उसके लिये सुन्दर उदाहरण देते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार लोहे की छड़ से पाषाण पर बारम्बार प्रहार करने से वह शुद्ध मलहीन एवं चमकदार हो जाता है, उसी प्रकार रजस् एवं तमसजन्य चित्तमल अथवा अशुद्धि भी तपस्या के द्वारा विरल अवयवों वाली अर्थात् क्षीण हो जाती है[3]। तपस्या भी दो प्रकार की होती है — (1) सात्त्विक अर्थात् चित्त को प्रसन्न करने वाली, एवं (2) तामसी अर्थात् शारीरिक पीड़ा, व्याधि इन्द्रियदोष आदि उत्पन्न करने वाली । क्रियायोग में सात्त्विक तप का ही अन्तर्भाव किया जाता है । इस तप से ही चित्तमल दूर होता है और समाधि की भावना उत्पन्न होती है । इसके विपरीत तामसी तपस्या अनेक शारीरिक एवं मानसिक दोषों को उत्पन्न करने के कारण योगमार्ग में विघ्नस्वरूप ही है । अनेक लोग अज्ञानवश इसी कष्टदायी तपस्या में ही जीवन व्यतीत कर देते हैं परन्तु उन्हें ध्येयप्राप्ति नहीं हो पाती है । योगदर्शन में यह तप सर्वथा वर्जित है । योगसिद्धि के लिए चित्त को प्रसन्न करने वाले तप का विधान है

1- तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः यो. सू. 2-1.

2- समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च । यो. सू. 2-2.

3- अयोघनाभिहतः पाषाण इव साऽशुद्धिस्तमसा विरलावयवा भवतीति । भा. पृ. 138.

क्योंकि चित्त की प्रसन्नता प्रथम स्थिति है एवं तदनन्तर क्रमशः समाधिलाभ की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है ।

युक्त आहार विहारादियुक्त साधक की योगसाधना दुःख का प्रशमन करती है । युक्ताहार का अर्थ सात्विक, अल्प एवं शुद्ध आहार है । दुष्कर्मों से अर्जित धन द्वारा बना भोजन मन में बुरे विचार लाता है । अतः साधन अर्थात् द्रव्यार्जन के साधन का भी विशेष महत्व है । परिश्रम एवं ईमानदारी के द्वारा अर्जित धन से बना भोजन मनमें सुन्दर विचार जागृत करता है, साथ ही शरीर के लिए भी लाभप्रद एवं स्वास्थ्यवर्धक होता है । गीताके अनुसार सात्विक आहार आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख एवं प्रीति का वर्धन करने वाला होता है । यह सात्विक आहार स्निग्ध, स्थिर रहने वाला तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय होताहै[1]। जितनी भूख हो उसके एक चतुर्थांश से कुछ कम भोजन करना मिताहार कहलाता है । भोजन के सम्बन्ध में यह भी नियम है कि योगी को आधा पेट भोजन करना चाहिए । आहार का एक चतुर्थांश जल सेवन करना चाहिए एवं भूख से एक चौथाई भाग श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया को स्वाभाविक रूप से होने के लिए छोड़ देना चाहिए । पेट भर भोजन करने से श्वास-प्रश्वास में कठिनाई होती है ।

आचार्य के अनुसार तपस्या कायसंयम है[2]। उनके अनुसार चित्त को प्रसन्न करने वाले आसन एवं प्राणायाम, मिताहार, क्लेश सहन करना एवं

1- आयुः सत्त्वबलारोग्य सुखप्रीति विवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराःसात्त्विकप्रियाः। श्रीमद् भगवद्गीता । 7-8

2- तपस्तु चित्तप्रसादकराणामासनप्राणायामोपोषणादीनां क्लेशसहनं सुखत्यागश्च कायसंयमस्तपः । भा. पृ. 138.

सुखत्याग ही तप है । तप के द्वारा योगी कष्टसहिष्णु बनता है एवं शारी-रिक सुख के प्राप्त न होने पर भी जब मानसिक विकार उत्पन्न न हों तो योगसाधना का अधिकारी बना जा सकता है । गीता में शारीरिक तप का वर्णन इस प्रकार किया गया है —

> "देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
> ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।।"[1]

आचार्य के अनुसार, जिस प्रकार तप शारीरिक संयम है उसी प्रकार स्वाध्याय वाचिक संयम एवं ईश्वरप्रणिधान ये मानसिक संयम हैं[2]।

स्वाध्याय के विषय में गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने "यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि" कहकर जप के महात्म्य एवं उपादेयता को स्वीकार किया है । मन्त्रजप के सम्बंध में यह उल्लेखनीय है कि मन्त्र वैदिक एवं तान्त्रिक इस भेद से द्विविध हैं । वैदिक मंत्रों में जिस देवता का चिन्तन अभीष्ट हो उस देवता के लिए प्रयुक्त मन्त्रों का जप करना चाहिए । मन्त्र जप से पूर्व यदि योग्य गुरु का निर्देश ले लिया जाए तो अधिक अच्छा होता है । स्वाध्याय वाचिक क्रियायोग है । स्वाध्याय से पंचक्लेश क्षीण होते हैं एवं समाधि की भावना होती है ।

आचार्य के अनुसार ईश्वरप्रणिधान मानसिक संयम है । सकल क्रियाओं का ईश्वर के प्रति समर्पण कर देना ही ईश्वरप्रणिधान है । मन, वचन और कर्म से सभी कार्य ईश्वर को अर्पित कर देना चाहिए । जो कुछ भी मैं करता हूँ वह ईश्वर की ही प्रेरणा से हो रहा है, यह भावना सदैव मन में होनी चाहिए । ईश्वर प्रणिधान का स्वरूप निम्नलिखित श्लोक में स्पष्ट है —

1- द्रष्टव्य- श्रीमद्भगवद्गीता— 17-14.

2- वाक्संयमः स्वाध्यायः ईश्वरप्रणिधानन्तु मानसःसंयम इति ।
भा. पृ. 138

"कामतोऽकामतो वाऽपि यत्करोमि शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ।।"

अर्थात् कामना से अथवा निष्काम भावना से जो भी शुभ अथवा अशुभ कार्य मैं करता हूं, वे सब मैं आपको अर्पित करता हूं, क्योंकि मेरे सकल कर्म आपके द्वारा ही प्रेरित हैं ।

ईश्वरप्रणिधान का दूसरा स्वरूप है--कर्मफलसंन्यास । बिना किसी फलप्राप्ति की आकांक्षा के कर्म में लगे रहना ही कर्मफलसंन्यास रूप ईश्वर-प्रणिधान है । ईश्वरप्रणिधान के इसी स्वरूप का उपदेश श्रीकृष्ण ने गीता में दिया है --

" कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।"[1]

किसी फल की आकांक्षा अथवा स्वार्थ से किये गये कर्म बन्धन के हेतु होते हैं । यदि कर्मफलों का त्याग किया जाए तो बन्धन भी सहज ही समाप्त हो जाते हैं एवं समाधिलाभ होता है । इन क्रियायोगों का मुख्य प्रयोजन अविद्यादि पंच क्लेशों को क्षीण करना एवं समाधि की भावना करना है । क्लेशों के क्षीण होने से चित्त समाधि की ओर अभिमुख होता है ।

इस प्रसंग में यह शंका उठती है कि क्रियायोग एवं विवेकख्याति इन दोनों के (विधान) कथन की क्या आवश्यकता है । यदि क्रियायोग से क्लेश क्षीण हो जाते हैं तो विवेकख्याति का क्या प्रयोजन है और यदि विवेकख्याति से ही क्लेश दग्धबीजत्व प्राप्त करते हैं तो क्रियायोग से

1- द्रष्टव्य-- श्रीमद्भगवद्गीता-- 2-47.

क्लेशातनूकरण का विधान अनावश्यक है । परन्तु यह शंका निर्मूल है क्योंकि समाधिसाधन के लिए दोनों का अपना स्थान एवं महत्त्व है । क्रमिक सोपान की दृष्टि से देखा जाए तो सर्वप्रथम क्रियायोग से चित्त अभ्यास एवं वैराग्य में प्रवृत्ति करने के योग्य बनता है । अभ्यास और वैराग्य से क्रमशः सम्प्रज्ञात समाधि, विवेकख्याति एवं असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है । क्रियायोग के द्वारा क्लेश क्षीण होते हैं एवं ये ही क्षीण क्लेश विवेकख्यातिजन्य प्रज्ञा से दग्धबीज होकर फल देने में असमर्थ बनते हैं । इस कारण से योगसाधना में क्रियायोग का विशेष महत्त्व होता है ।

...

योगसाधना के अंग

योगांग के अनुष्ठान से अशुद्धि का क्षय होता है एवं विवेकख्याति पर्यन्त ज्ञानदीप्ति होती रहती है[1]। भाष्यकार योगांगों के अनुष्ठान की परशु से उपमा देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार परशु किसी वस्तु को काट कर सर्वथा अलग कर देता है उसी प्रकार से अनुष्ठान भी अविद्या को चित्त से साकल्येन दूर कर देते हैं[2]। यह अशुद्धियों का वियोगकारण एवं विवेकख्याति का प्राप्तिकारण है।

योगसाधना के आठ अंग माने गये हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि ये योग के अष्टांग हैं[3]। इनमें से प्रथम पांच योग के बहिरंग एवं अन्तिम तीन अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के अन्तरंग माने जाते हैं। समाधिसाधन के लिए अभ्यास, वैराग्य आदि का निर्देश समाधिपाद में किया गया है। समाधिपाद में ही चित्त के परिकर्मों का भी उपदेश चित्त को समाधिसिद्ध योग बनाने के लिए किया गया है। वस्तुतः ये सब भी अष्टांगों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। इन आठ योगांगों का बार-बार अनुष्ठान करना अभ्यास है। नियम के अन्तर्गत आने वाले सन्तोष में वैराग्य अन्तर्भूत हो जाता है। श्रद्धा आदि तप की कोटि में आते हैं। चित्त परिकर्मों का संग्रह धारणा, ध्यान आदि में किया जा सकता है। इस प्रकार अभ्यास, वैराग्य, चित्त परिकर्म

1- योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः। यो. सू. 2-28.

2- योगांगानुष्ठानमशुद्धेर्वियोगकारणम् यथा परशुश्छेद्यस्य। यो. भा. सू. - 2-28.

3- यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि।
यो. सू. 2-29.

एवं क्रियायोग सभी का अन्तर्भाव योगांगों में हो जाता है[1]।

यम — इन अष्टांगों में सर्वप्रथम स्थान यमों का है। यम निवृत्तिरूप होते हैं। यम् उपरमे धातु में घञ् प्रत्यय लगाने से यम शब्द की निष्पत्ति होती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम हैं[2]। हिंसा, असत्य, स्तेय, मैथुन एवं परिग्रह आदि से निवृत्ति ही यम है। योगसार-संग्रह में इन यमों का परिगणन करते हुए कहा गया है कि ये प्राणियों के चित्त की शुद्धि करते हैं —

> "अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं परिग्रहो ।
> यमाः संक्षेपतः प्रोक्ताश्चित्त शुद्धिप्रदा नृणाम्"।[3]

अहिंसा — ये अहिंसा-सिद्धि के हेतु होने का कारण अहिंसा-प्रतिपादन के लिए ही निर्दिष्ट है[4]। भाष्यकार के अनुसार समस्त प्राणियों के प्रति सर्वथा पीड़ा न पहुँचाना ही अहिंसा है। आचार्य आरण्य के अनुसार केवल परपीड़नराहित्य ही अहिंसा नहीं है वरन् परपीड़नराहित्य के साथ ही साथ प्राणियों के प्रति मैत्री आदि सद्भावना भी होनी चाहिए। "अहिंसा परमोधर्मः" स्मृति की इस उक्ति के अनुसार अहिंसा ही सबसे बड़ा धर्म है। मोक्षधर्म में भी अहिंसा की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा गया है —

1- अभ्यासवैराग्यश्रद्धावीर्यादयोऽपि यथायोगमेष्वेव स्वरूपतो नान्तरीयकतया चान्तर्भावयितव्याः। त. वै. पृ. 247.

2- अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः। यो. सू. 2-30

3- द्रष्टव्य— यो. सा. सं. पृ. 6।

4- उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते। — यो. भा. सू. 2-30

"यथा नागपदेअन्यानि पदानि पदगामिनाः ।
सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौन्जरे ।"
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपि धीयते ।"

अहिंसा का मनसा, वाचा, कर्मणा पालन योगसाधकों को करना चाहिए मन से भी किसी प्राणी का अनभीष्ट एवं अनिष्टचिंतन करना, वाणी से दूसरों को कठोर एवं अप्रिय शब्द कहना एवं शरीर से अन्यप्राणियों को मारना आदि हिंसा के ही विविध रूप हैं । योगसाधक को इसके विपरीत अन्य प्राणियों के प्रति मैत्री भावना रखना चाहिए । दूसरों को प्रिय हो ऐसा बोलना चाहिए ।

आचार्य कहते हैं कि भविष्य में देह न धारण करना पड़े इसी हेतु से योगिजन योगसाधना करते हैं । यथासंभव स्थावर जंगम प्राणियों के प्रति अहिंसा भाव रखना चाहिए । उच्चकोटि के प्राणियों को पीड़ित नहीं करना चाहिए ।

मनु ने पादप्रदेश से हुई अनिवार्य हिंसा के परिमार्जन के लिए 12 बार प्राणायाम करने का विधान किया है । इस प्रकार से योगसाधना में निरत योगियों के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा सर्वथा अहिंसा का पालन आवश्यक है ।

सत्य -- आचार्य सत्य के स्वरूप को पुष्ट करते हुए कहते हैं कि वही मन सत्य है जो कि प्रमाणों के द्वारा उपलब्ध विषय का ग्रहण करे एवं प्रमाणों के द्वारा बाधित विषय का ग्रहण न करे । इसी प्रकार से जो मन में है उसी का कथन एवं अन्यथा वस्तु का न कहना ही

वाक् सत्य है[1]।

दूसरों को कुछ बोध कराने के लिए जो वाणी प्रयुक्त हो वह भ्रांति-पूर्ण न होकर सर्वथा अभ्रान्तिपूर्ण अथवा जिसमें कोई भ्रान्ति उत्पन्न होने की आशंका न हो, ऐसी होनी चाहिए। जो वाणी भ्रान्ति उत्पन्न करने वाले, स्वबोधार्थ को छुपाने वाली एवं अस्पष्टार्थयुक्त पदों में हो वह सत्य न होकर असत्य ही होती है[2]। इसी प्रकार महाभारत में युधिष्ठिर का द्रोणाचार्य के प्रति यह कथन "अश्वत्थामा हतो, नरो वा कुञ्जरो वा" भी भ्रान्ति उत्पन्न करने के कारण सत्य की श्रेणी में नहीं आता है।

आरण्य के अनुसार यथार्थ होने पर भी वाक् को दूसरों को पीड़ित करने के लिए प्रयोग में नहीं लाना चाहिए[3]। स्मृति में प्राचीनकाल से सत्य के विषय में हमारी यह नीति रही है —

"सत्यं ब्रूयात प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात सत्यमप्रियम।
प्रियंच नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥"

आचार्य के अनुसार हिंसादि से दूषित पुण्याभासरूप सत्यकथन से कष्ट-बहुल नरक (निरय) प्राप्त होता है[4]।

1- यथार्थे वाङ्मनसे, प्रमाणप्रमितविषयाणामेव भाषोपादानं नाप्रमितस्येति यथार्थमनः, यन्मनसि स्थितं तस्यैवाभिधानं नान्यस्येति यथार्थं वाक्। भा. पृ. 248

2- सा वाग् यदि वंचिता=वंचनाय प्रयुक्ता, भ्रान्ता=भ्रान्तिजननाय सत्याच्चालनाय प्रयुक्ता, तथा प्रतिपत्तिवन्ध्या=अस्पष्ट अर्थैरुच्यमानत्वात्। भा. पृ. 249

3- एषा या वार्था अपि वाक् न परोपघाताय प्रयोक्तव्या। भा. पृ. 249

4- हिंसादूषितं सत्यं पुण्याभासंभव, तेन पुण्यप्रतिरूपकेण पुण्यवत् प्रातीयमानेन सत्येन कष्टं तमः कष्टबहुलं निरयं प्राप्नुयात। भा. पृ. 250

सत्यवचन का अनादि काल से विशेष महत्व रहा है । सहस्रों अश्व-मेध यज्ञों के पुण्य की तुलना में सत्यवचन का पुण्य कहीं अधिक बड़ा माना गया है । "सत्येन पन्था विततो देवयानः" एवं "सत्यमेव जयते नानृतम्" आदि श्रुतिवाक्य सत्य के माहात्म्य को प्रदर्शित करते हैं ।

सत्यसाधना का अभ्यास करने के लिए मौन का आश्रय लेना चाहिए । मौन सर्वोत्तम उपाय है । तत्पश्चात् क्रमशः अल्पभाषण करना चाहिए । क्योंकि जितना कम बोला जाएगा उतना ही असत्य भाषण की सम्भावना भी कम रहेगी । अन्ततः केवल पारमार्थिक सत्य का ही चिंतन करते रहना चाहिए ।

अस्तेय -- "मुष स्तेये" धातु से स्तेय शब्द निष्पन्न होता है । स्तेय का अर्थ चोरी अथवा तस्करी करना है । स्तेय में "नञ" प्रत्यय लगाने से अस्तेय शब्द बनता है जिसका अर्थ है चोरी एवं परद्रव्य का ग्रहण करना । आरण्य के अनुसार केवल चोरी से विरत होना ही अस्तेय नहीं है, वरन् अग्राहणीय वस्तु के प्रति स्पृहा का भी अभाव होना अस्तेय है[1] । अस्तेय भी केवल कर्मणा नहीं होता है अर्थात् इन्द्रियों से ही परद्रव्य का अग्रहण अस्तेय नहीं है अपितु मन में भी परद्रव्य के प्रति कोई स्पृहा अथवा आसक्ति का न होना ही अस्तेय है । इस प्रकार आरण्य अस्तेय की कल्पना और भी सूक्ष्म स्तर तक ले गये हैं । विवेकानन्द ने राजयोग में अस्तेय की महत्ता पर बल देते हुए कहा है कि परद्रव्य अथवा उपहार ग्रहण करने वाले मनुष्य के मन पर उपहार देने वाले व्यक्ति के मन का प्रभाव पड़ता है अतः उपहार

1- न हि चौर्यविरतिमात्रमस्तेयं किन्तु अग्राहणीयविषयेऽस्पृहत्वं तत् । भा. पृ. 250.

लेने वाले व्यक्ति के मन का अधःपतन होना संभावित रहता है । परद्रव्य का स्वीकरण मन की स्वतंत्रता को समाप्त कर देता है एवं उसे दास बना देता है । इसलिए उपहार स्वीकार नहीं करना चाहिए[1]। इस प्रकार योगसाधकों के लिए अस्तेय यम का पालन अत्यन्त आवश्यक है । श्रुति में भी "मा गृधः कस्यस्विद्धनम्" द्वारा अस्तेय का महात्म्य स्वीकार किया गया है ।

ब्रह्मचर्य — मनसा, वाचा, कर्मणा सकल परिस्थितियों में, सर्वत्र समस्त प्राणियों के प्रति मैथुन का सर्वथा अभाव ब्रह्मचर्य कहलाता है । भाष्य के अनुसार साधारणतया उपस्थ का संयम ही ब्रह्मचर्य है । परन्तु आचार्य के अनुसार केवल उपस्थ संयम ही ब्रह्मचर्य नहीं है अपितु स्मरणकीर्तनादि अब्रह्मचर्य के लक्षणों का भी सर्वथा अभाव ही ब्रह्मचर्य है[2]।

बिना ब्रह्मचर्य के योगी को आत्मसाक्षात्कार नहीं हो सकता है । इस विषय में श्रुति भी प्रमाण है —

"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येणनित्यम्।"

ब्रह्मचर्य के आचरण एवं पालन के लिए मन को भोगविषयक संकल्पों से सर्वथा शून्य कर देना चाहिए एवं तत्पश्चात् उपस्थेन्द्रिय को मर्महीन कर देना चाहिए अर्थात् उपस्थेन्द्रिय के मर्म स्थान पर निष्क्रियता की भावना करना चाहिए । इस विधि से ब्रह्मचर्य की सिद्धि की जा सकती है । मिताहार एवं अल्पनिद्रा भी ब्रह्मचर्य में सहायक होते हैं ।

1- कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा । सर्वत्र मैथुनत्यागं ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते । यो. सा. सं. 62.

2- रक्षितानि संयतानि चक्षुरादीन्द्रियाणि येन तादृशस्य स्मरणकीर्तनादिरहितस्य यमिन उपस्थेन्द्रियसंयमो ब्रह्मचर्यम् । भा. पृ. 250.

अपरिग्रह — अपरिग्रह यह अन्तिम यम है । आचार्य के अनुसार द्रव्य के अर्जन एवं रक्षण दोनों से ही दुःख होता है । अतः शरीर की रक्षा के लिए जितना अत्यन्त आवश्यक है उससे अधिक संचय न करना ही अपरिग्रह है[1]। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने स्थितप्रज्ञ का लक्षण करते हुए अत्यन्त सुन्दर रीति में समझाया है —

"ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ।।
क्रोधात् भवति सम्मोहःसंमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।।"

विषय-चिन्तन से आसक्ति, आसक्ति से कामना, फिर क्रमशः क्रोध, संमोह, स्मृतिविभ्रम एवं अन्ततः बुद्धिनाश हो जाता है । बुद्धिनाश से व्यक्ति मृतप्राय हो जाता है । इस स्थिति से बचने के लिए मन में अपरिग्रह की भावना होनी चाहिए । विषयों के प्रति सर्वथा आसक्तिहीन होने से उनमें लोलुपता एवं उनके संचय की कामना नहीं उत्पन्न होती है । द्रव्य साधारण सांसारिक जनों के लिए भी दुःख हेतु होता है फिर योगिजनों के लिए तो सर्वथा वर्ज्य ही है । द्वादश-पंजरिकास्तोत्र में इस विषय में इस प्रकार कहा गया है —

"अर्थमनर्थं भावय नित्यं नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम् ।
पुत्रादपि धनभाजां भीतिः सर्वत्रैषा विहिता रीतिः ।।"

1- अर्जनरक्षणादिषु दोषो दुःखं तद्दर्शनाद् देहरक्षातिरिक्तस्य विषयस्यास्वीकरणमपरिग्रहः । भा. पृ. 250.

अर्थात् धन अनर्थ का कारण है। उसमें किंचित् भी सुख नहीं है। धनवानों को अपने पुत्र से भी भयभीत रहना पड़ता है। यही लोकरीति सर्वत्र पायी जाती है। इसलिए अपना सब कुछ दूसरों के लिए त्याग कर देना चाहिए। अपनी प्राणयात्रा के लिए जितना कुछ आवश्यक है उसी को ग्रहण करना चाहिए। इस प्रयोजन से शेष जो कुछ भी हो उसे संचय की किंचित् भी इच्छा मन में न होना ही अपरिग्रह है। विज्ञानभिक्षु ने संकटकालीन परिस्थितियों में भी किसी से इच्छापूर्वक उपहार ग्रहण का निषेध किया है[1]।

इस प्रकार अहिंसादि ये उपर्युक्त यम हैं। सामान्यरूपेण वर्णित इन यमों का महाव्रत के रूप में अनुष्ठान किया जाना चाहिए। जाति, देश, काल, समय आदि की सीमा से रहित प्रत्येक अवस्था में आचरण किये जाने पर ये यम महाव्रत कहलाते हैं[2]।

नियम — अष्टांग योग में यमों के बाद नियम का स्थान है। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान ये नियम हैं[3]। योगसारसंग्रह में भी इन्हीं पाँच को नियमों के अन्तर्गत संग्रहीत किया गया है —

> तपः स्वाध्याय सन्तोषाः शौचमीश्वरपूजनम् ।
> समासान्नियमाः प्रोक्ता योगसिद्धिप्रदायिनः ।।[4]

1- द्रव्याणामप्यनादानदथपि यथेच्छया अपरिग्रह इत्युक्तस्तं प्रत्येनेन पालयेत् ।।
   यो. सा. सं. पृ. 62

2- जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् । यो.सू. 2-31.

3- शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः । यो.सू. 2-32.

4- द्रष्टव्य- यो. सा.सं. पृ. 63.

नियमों में शौच सर्वप्रथम आता है । शौच का अर्थ है पवित्रता । यह शौच द्विविध होता है । स्नानादि कर्म, मृत्तिका से प्रक्षालन तथा शुद्ध आहार के ग्रहण से जो शारीरिक शुद्धि होती है वह बाह्य शौच है । शरीर एवं निवासस्थान को स्वच्छ रखना योगी का आद्य कर्तव्य है । आचार्य के अनुसार अमेध्य पदार्थों का सर्वथा त्याग करना चाहिए[1] क्योंकि अमेध्य पदार्थों के ग्रहण से चित्त मलिन हो जाता है । उच्छिष्ट दुर्गन्धयुक्त एवं बासी पदार्थ एवं मद्यादि मादक पदार्थ सर्वथा वर्ज्य हैं, क्योंकि इनसे योगी चित्त को स्थिर करने में असमर्थ हो जाता है ।

"बाह्याभ्यन्तरं शौचं द्विधा प्रोक्तं द्विजोत्तमाः ।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनः शुद्धिरथान्तरम् ॥"

बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही प्रकार के शौच योगी के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं परन्तु इन दोनों में भी आभ्यन्तर शौच योगसाधना की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं । विवेकानन्द ने राजयोग में कहा है कि आभ्यन्तर शौच के अभाव में बाह्य शौच व्यर्थ ही है[*]।

उपलब्ध जीवन-निर्वाह के साधनों से अधिक साधनों की प्राप्ति की इच्छा का सर्वथा अभाव ही सन्तोष है[2]। आचार्य शान्तिपर्व से निम्न श्लोक उद्धृत करके सन्तोष का माहात्म्य प्रदर्शित करते हैं —

"सर्वाः सम्पदस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम् ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः ॥"

1- आदिशब्देनामेध्यसंसर्गविवर्जनमपि ग्राह्यम् । भा.वृ. 252.

2- सन्तोषःसन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा । यो. भा. सू. 2.32.

जो कुछ प्राप्त होता है उसी को पर्याप्त समझ कर उसमें तुष्ट रहने से सन्तोष नामक यम की सिद्धि होती है ।

आचार्य के अनुसार द्वन्द्वों से उत्पन्न दुःख को सहन करना ही तप है[1]। क्षुधा-पिपासा, शीत-उष्ण एवं खड़े होना और बैठना ये द्वन्द्व हैं । इन द्वन्द्वों से उत्पन्न दुःखों को सहन करने से शरीर का कष्टसहिष्णु बनता है एवं फिर उसे ये कष्ट विचलित नहीं करते हैं । क्षुधा-पिपासा आदि पर योगी का वश हो जाने से योगसाधना के समय यदि पिपासादि लगे तो योगी की साधना में विघ्न नहीं होता है क्योंकि उसका योगी के चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है । इसी प्रकार काष्ठमौन एवं आकारमौन का भी आचरण करना चाहिए । आचार्य के अनुसार "सर्वाभिव्यक्तित्यागः" अर्थात् इशारे से भी अपने मन्तव्य को प्रकट न करना काष्ठमौन है । मुँह से कुछ भी न बोलना आकारमौन है । इन काष्ठमौन एवं आकारमौन के पालन करने से वृथा वाक्य तथा कठोर अप्रिय वचनों के कथन से बचा जा सकता है । साथ ही सत्य नामक यम के आचरण में भी यह सहायक होता है ।

आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन एवं प्रणव का जप करना ही स्वाध्याय है । प्रणव के जप से चित्त एकाग्र होने के कारण शीघ्र ही समाधि लाभ होता है । मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मरूप चरम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आत्मा को शर एवं प्रणव को धनुष बताया गया है ।

"प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।।"[2]

1- तपः द्वन्द्वदुःखसहनम् । आ.पृ. 253.

2- द्रष्टव्यः मुण्डकोपनिषद् --- 2-2-4.

इस प्रकार प्रणव के जप से चित्तशुद्धि होकर वह एकाग्र होता है। आध्यात्मिक ग्रन्थों के अध्ययन से चित्त विषयों के चिन्तन से पराङ्गमुख हो जाता है, फलस्वरूप साधक को ध्यान धारणादि सरल हो जाते हैं।

अन्तिम ईश्वरप्रणिधान है। भास्वती के अनुसार सभी कर्मों का निष्काम भावना से एवं फलकांक्षा से रहित होकर ईश्वर को समर्पण कर देना ही ईश्वरप्रणिधान है[1]। सभी कर्मों में अभिमान की भावना को त्याग कर "जो कुछ भी हो रहा है ईश्वर की ही प्रेरणा से है" इस प्रकार की भावना को ग्रहण करके अभिमानहीन होकर उसे परमगुरु ईश्वर को अर्पित कर देना चाहिए। ईश्वरार्पण के लिए कर्म में रत होते हुए भी ईश्वरस्मरण करना आवश्यक है क्योंकि ईश्वरस्मरण से ही अहं-भाव समाप्त होता है।

कर्मों में ईश्वरार्पण के सम्बन्ध में गीता की यह पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं —

"कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ।।"

भाष्यकार ने भी ईश्वरप्रणिधान के स्वरूप का विशद विवेचन करने के हेतु से निम्न श्लोक उद्धृत किया है —

"शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः ।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी ।।"

1- ईश्वरप्रणिधानम् ईश्वरे सर्वकर्मार्पणम् कर्मफलाभिसन्धिशून्यता ।
भा. पृ. 253.

इस प्रकार ईश्वर प्रणिधान से जीवात्मा के स्वरूप का ज्ञान एवं विघ्नों का विनाश होता है। विष्णुपुराण में भी इन यम एवं नियमों का उल्लेख किया गया है--

"ब्रहमचर्यमहिंसां च सत्यास्तेयापरिग्रहान् ।
सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां स्वमनो नयन् ।
स्वाध्यायशौचसन्तोषतपांसि नियतात्मवान् ।
कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन् प्रवणं मनः ।
एते यमाश्च नियमाः पंच पंच प्रकीर्तिताः ।।"

यम एवं नियमों के पालन में तत्पर योगसाधकों के मार्ग में अनेक विघ्न आते हैं। ये विघ्न ही वितर्क हैं। यमों के पालन में हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रहमचर्य एवं परिग्रह ये वितर्क हैं। इसी प्रकार नियमों के पालन में भी विविध वितर्क विघ्न उत्पन्न करते हैं। योगी को इन वितर्कों द्वारा बाधित होने पर प्रतिपक्ष की भावना करनी चाहिए[1]।

ये वितर्क भी कृत अर्थात् स्वयं किये गये, कारित अर्थात् दूसरों के द्वारा कराये गये एवं अनुमोदित अर्थात् अनुमोदन किये गये इस प्रकार से कर्मानुसार ये अल्प, मध्यम एवं अधिक परिमाणयुक्त होते हैं। ये दुःख एवं अज्ञान रूपी अनन्त फल के प्रदायक होते हैं[2]। योगी को ये वितर्क दुःखदायक हैं इस प्रकार की प्रतिपक्षभावना करनी चाहिए। वितर्कों में अनुस्यूत अनिष्ट फलों का चिन्तन करके चित्त को उनकी ओर से विमुख कर लेना चाहिए।

1- वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्। यो. सू. 2-33

2- वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला- इति प्रतिपक्षभावनम्। यो० सू० 2-34.

इन वितर्कों से बाधित न होने से अर्थात् इन पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेने से योगी की सिद्धि के प्रमाणस्वरूप यमनियमों के पालन से अन्य अनेक ऐश्वर्य उत्पन्न हो जाते हैं । अहिंसा के पूर्ण प्रतिष्ठित हो जाने पर योगी के सान्निध्य में आने वाले सभी प्राणी वैरभावशून्य हो जाते हैं[1]। वितर्कों का अप्रबाधमित्व ही यमनियमों का प्रतिष्ठित होना है ।

सत्य के प्रतिष्ठित होने पर क्रियाफलाश्रयत्व नामक सिद्धि प्राप्त होती है[2]। जो भी वाणी से निकले, वह सत्य ही हो जाए, यही क्रिया-फलाश्रयत्व है । इस ऐश्वर्य के फलस्वरूप योगी अपनी इच्छा के द्वारा दूसरों को प्रभावित करके उनसे अपनी इच्छानुसार कार्य करा लेने में समर्थ हो जाता है । क्योंकि सत्य में प्रतिष्ठित योगी की वाणी अमोघ हो जाती है । आचार्य के अनुसार कृत्रिम आदेश के द्वारा अनेक रोगों का निवारण किया जा सकता है । आचार्य ने स्वयं कृत्रिम आदेश के परीक्षण किये हैं एवं स्वानुभव के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है । (कृत्रिम आदेश के परीक्षण अनेक भारतीय योगियों ने किये हैं ।)

अस्तेय में प्रतिष्ठित योगी के सम्मुख सभी रत्न उपस्थित हो जाते हैं[3]। अस्तेय में प्रतिष्ठित योगी निस्पृहता की साक्षात् मूर्ति ही प्रतीत होता है । फलस्वरूप वह अत्यन्त विश्वासास्पद हो जाता है । इस कारण सभी प्रदेशों एवं देश के सभी भागों से आए हुए पर्यटक योगी को नानाविध रत्न उपहार-स्वरूप देते हैं ।

1- अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संन्निधौ वैरत्यागः । यो. सू. 2-35

2- सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् । यो. सू. 2-36

3- अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् । यो. सू. 2-37.

ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से वीर्यलाभ होता है[1]। वीर्यलाभ का अर्थ है शक्ति अथवा सामर्थ्य का चरमोत्कर्ष । आचार्य आरण्य के अनुसार ब्रह्मचर्य का पालन न करने से शरीर रिस्तेज हो जाता है । ब्रह्मचर्य से सारहानि रूक जाती है फलस्वरूप वीर्यलाभ होता है । वीर्यलाभ से अप्रतिहत गुणों का उत्कर्ष होना है एवं योगी को स्वज्ञान विषय में समाहित करने की शक्ति प्राप्त होती है ।

इस प्रकार ये अहिंसादि पांच यमों में पूर्ण प्रतिष्ठित हो जाने पर यह उपर्युक्त सिद्धियां योगी को प्राप्त होती हैं ।

बाह्य शौच नामक नियम के पूर्ण प्रतिष्ठित होने पर अपने शरीर से जुगुप्सा अथवा घृणा होती है एवं अन्य प्राणियों के अंगों से संसर्ग की भावना का सर्वथा अभाव होता है[2]।

आरण्य के अनुसार आभ्यन्तर शौच से मद, मान, ईर्ष्या आदि के प्रक्षालन से सत्त्व शुद्धि होती है । इससे चित्त में सौमनस्य या आनन्द की भावना होती है । सौमनस्य से एकाग्रता, एकाग्रता से इन्द्रियवश्यता एवं अन्ततः आत्मदर्शन होता है ।

सन्तोष से निरतिशय सुख का लाभ होता है[3]। मनुस्मृति में भी कहा गया है कि इहलोक में कामोपभोगजन्य सुख है एवं स्वर्ग का जो महान सुख है वह तृष्णाक्षयजनित सुख के सोलहवें भाग के समान नहीं है[4]।

तप के द्वारा अशुद्धि के क्षीण होने पर कायेन्द्रिय सिद्ध होती है[5]।

1- ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः । यो. सू. 2-38.

2- शौचात् स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः । यो. सू. 2-40.

3- संतोषादनुत्तमसुखलाभः । यो. सू. 2-42.

4- यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।

तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ।।" मनुस्मृति -3.2

अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व एवं यत्रकामावसायिता ये आठ कार्यसिद्धियाँ हैं । प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता ये इन्द्रिय सिद्धियाँ हैं ।

स्वाध्याय के द्वारा इष्ट देवताओं के साथ सम्पर्क होता है[1]।

ईश्वर प्रणिधान से समाधि सिद्ध होती है[2]। ईश्वर प्रणिधान साक्षात् समाधि का हेतु है । प्रणिधान की भावना अत्यधिक प्रबल होकर शरीर को आसनस्थ एवं इन्द्रियों को विषयों से प्रत्याहृत कर देती है । यही प्रणिधान की भावना तब ध्यान एवं धारणा इन रूपों में परिपक्व होकर अन्ततः समाधिसिद्धि की साधिका बनती है ।

यदि ईश्वरप्रणिधान से ही समाधिसिद्धि होती है तो अन्य योगांगों का परिगणन व्यर्थ है । परन्तु इस शंका का निरसन करते हुए भास्वती में आचार्य कहते हैं कि अन्य योगांग भी ईश्वरप्रणिधान में सहायक ही हैं । पाँचों यम एवं नियमों से अशुद्धि का नाश होता है । तप से शरीर द्वन्द्व-सहिष्णु होता है । इन सबके आचरण से चित्त में ईश्वरप्रणिधान की भावना होती है ।

यम नियमों में से किसी एक के नष्ट हो जाने पर सभी फल नष्ट हो जाते हैं । आचार्य इस विषय में एक सुन्दर उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार एक ही छिद्र के होने से सम्पूर्ण घड़े का पानी गिर जाता है,

---

1- स्वाध्यायादिष्टदेवता सम्प्रयोगः । यो. सू. 2-44.

2- समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात् । यो. सू. 2-45.

उसी प्रकार एक ही यम या नियम के भंग होने पर पूर्ण महाव्रत ही भंग हो जाता है[1]। मनुस्मृति भी इस विषय में प्रमाण है —

"ब्रह्मचर्यमहिंसा च क्षमा शौचं शमो दमः ।
सन्तोषः सत्यमास्तिक्यं व्रताङ्गानि विशेषतः ।
एकेनाप्यथहीनेन व्रतमस्य तु लुप्यते ।"

आसन — स्थिर एवं सुखावह उपवेशन ही आसन है[2]। "आस्यते अनेन इति करणे ल्युट" इस व्युत्पत्ति से निष्पन्न आसन शब्द का अर्थ है — शरीर का निश्चल, स्थायी एवं सुखप्रद स्थिति में रहना । आचार्य के अनुसार जब पद्मासनादि स्थिर एवं सुखावह होते हैं तभी वे योग के अंगभूत आसन कहलाते हैं[3]। गीता में भी आसन के सम्बन्ध में कहा गया है —

"समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।।
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ।।" 6/12/13.

श्रुति के अनुसार भी सभी आसनों में मेरुदण्ड को सीधा रखना चाहिए जिससे वक्ष, ग्रीवा एवं शिर उन्नत एवं सम अवस्था में रहें[4] ।

1- यथैकर मादपि च्छिद्रात पूर्णघटो वारिहीनो भवति, तथा अहिंसाअदिशीलानामेकतमस्यापि सम्यदादितरं निर्वीर्या भवन्तीति । भा. पृ. 265.

2- स्थिरसुखमासनम् । यो. सू. 2-46.

3- पद्मासनादि यदा स्थिरसुखं स्थिरं सुखं सुखावहन्च यथासुखमित्यर्थः, भवति तदा योगांगमासनं भवति । भा० पृ० 266-267.

4- त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम् । श्वेता०उप० अ० 2-8.

प्रत्यनशैथिल्य एवं अनन्तसमापत्ति के द्वारा आसन सिद्ध होता है[1]।

प्रत्यनैशिथिल्य का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि शरीर का वृक्षवत् स्थिति में पड़े रहना ही प्रत्यनशैथिल्य है[2]।

आचार्य के अनुसार आसन की सिद्धि के लिए प्रत्यनशैथिल्य के अतिरिक्त अनन्त में समापत्ति भी आवश्यक है । आचार्य ने अनन्त का अर्थ आकाशादिगत आनन्त्य में चित्त की तदाकाराकारिता यह किया है[3]। मेरा शरीर शून्यवत् होकर अनन्त आकाश में एकाकार हो गया है, मैं सर्वव्यापी अनन्त आकाश के सदृश हूँ इस प्रकार की भावना ही अनन्तसमापत्ति है[4]।

वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु, राघवानन्द, सदाशिवेन्द्र सरस्वती एवं नागोजी भट्ट प्रभृति व्याख्याकारों ने सूत्रगण अनन्त शब्द का अर्थ शेषनाग किया है[5]। आरण्य का अभ्यास के स्वानुभव पर अवलम्बित मत कि अनन्त अर्थात् आकाश यही अधिश्रेयस्कर प्रतीत होता है ।

आसन जय होने से शीतोष्णादि द्वन्द्व साधक को अभिभूत नहीं कर पाते हैं[6]।

1- प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् । यो. सू. 2-47.

2- वृक्षवत् स्थितिरेव प्रयत्नशैथिल्यम् । भा. पृ. 267.

3- आनन्त्ये परमहत्त्वे वा समापन्नो भवेदासनसिद्धये । भा. 267.

4- द्रष्टव्य- पातंजल-योग-दर्शन (हरि. आ.) पृ. 195.

5- अनन्ते वा नागनायके स्थिरतरफणासहस्रविधृतविश्वम्भरामण्डले समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्तयतीति । तत्वै० पृ० 268.

6- ततो द्वन्द्वानभिघातः । यो. सू. 2-48.

प्राणायाम — आसनसिद्धि के पश्चात् श्वास एवं प्रश्वास की गति का रोकना ही प्राणायाम है[1]। आसनसिद्धि के बिना प्राणायाम नहीं हो सकता है एवं यदि अविधिवशात् हुआ भी तो उससे अनेक विकारों की आशंका होती है। अतः प्रथम आसनजय करके तभी प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

बाह्य वायु को नासिकापुटों के माध्यम से ग्रहण करना श्वास कहलाता है। शरीरस्थ वायु का नासिकापुटों के द्वारा बाहर निकालना प्रश्वास अथवा उच्छ्वास कहलाता है। इन दोनों अर्थात् श्वास और प्रश्वास की गति का नियमन अर्थात् उभयाभाव ही प्राणायाम नामक चतुर्थ योगांग है।

यह प्राणायाम रेचक, पूरक एवं कुम्भक इन भेदों से त्रिविध होता है। यह त्रिविध प्राणायाम देश, काल और संख्या के द्वारा परिदृष्ट होता हुआ दीर्घ और सूक्ष्म होता है[2]। आचार्य इन भेदों को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि रेचनपूर्वक वायु का बहिःस्थापन अर्थात् श्वासग्रहण न करना एवं इसके साथ ही चित्त को भी बन्ध करना बाह्यवृत्ति प्राणायाम है[3]। आचार्य के अनुसार यह बाह्यवृत्ति प्राणायाम केवल रेचन मात्र ही नहीं है अपितु रेचकान्त निरोध स्वरूप है। इसको प्रमाणित करने के लिए आचार्य उद्धरण देते हैं —

"निष्क्रम्य नासाविवरादशेषं प्राणं बहिः शून्यमिवानिलेन ।
निरुध्य सन्तिष्ठति रुद्धवायुः स रेचको नाम महानिरोधः ।"

जब श्वास और प्रश्वास की गतियों का अवरोध पहले ही प्रयत्न से

1- तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः । यो. सू. 2-49.

2- बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः । यो. सू. 2-50.

3- यो वायोर्बहिरेवधारणं तथा वायुधारणप्रयत्नेन सह चित्तस्यापि बन्धः स बाह्यवृत्तिः प्राणायामः । भा. वृ. 269.

हो जाता है वह स्तम्भवृत्तिक प्राणायाम कहलाता है । भाष्य में इस प्राणायाम की तुलना तप्त प्रस्तर पर डाले गये जल से की गयी है । अर्थात् जिस प्रकार तपे हुए पत्थर पर पड़ा जल सहज ही सब ओर से संकुचित हो जाता है उसी प्रकार से स्तम्भवृत्तिक प्राणायाम में श्वास और प्रश्वास दोनों का एक साथ ही अवरोध हो जाता है[1]। इसी को और अधिक सरल शब्दों में स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि जब रेचक और पूरक के प्रयत्नों की अपेक्षा न करते हुए केवल एक ही विधारकप्रयत्न के द्वारा श्वास-प्रश्वास की गति का अवरोध कर चित्त को ध्येय विषय के साथ आबद्ध कर दिया जाए तो वह स्तम्भवृत्ति प्राणायाम होता है[2]। विज्ञान के अनुसार अपने शरीर में भरी हुई प्राणवायु का नियमन करके पूर्ण कुम्भ के समान स्थिर रहने के कारण इस स्तम्भवृत्तिक प्राणायाम को कुम्भक भी कहते हैं[3]। आरण्य के अनुसार यह प्राणायाम न रेचक है न पूरक एवं न ही रेचकपूरक सहकारी कुंभक। अपने मत के समर्थन में आरण्य उद्धरण देते हैं —

" न रेचको नैव च पूरकोऽत्र नासापुटे संस्थितमेव वायुम् ।
सुनिश्चितं धारयति क्रमेण कुम्भारण्यमेतद् प्रवदन्ति तज्ज्ञाः।।"

आचार्य ने त्रिविध प्राणायाम के लक्षणप्रसंग में "चित्तरोध" को प्रत्येक प्रकार के प्राणायाम के लिए अनिवार्य बताया है । उन्होंने चित्तरोध पर बल दिया है । वस्तुतः योग प्रामुख्येन चित्तनिरोध ही है, शरीरमात्र

1- यथा तप्तेन्यस्तमुपले जलं सर्वतः संकोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद् गत्यभाव इति । यो. सू. 2-50.

2- यत्र रेचनपूरणप्रयत्नमकृत्वा पूरणरेचने अनपेक्ष्य यथाअवस्थितवायोसकृद् विधारणप्रयत्नाद् श्वासप्रश्वासगत्यभावः तथा च चित्तस्य वायुधारणप्रयत्नेन सह ध्येयविषये बन्धः स एव तृतीयः स्तम्भवृत्तिःप्राणायामः । भा. पृ. 270.

3- स्वदेहे पूरितं वायुः निगृह्य विमैन्याति । सम्पूर्ण कुम्भवत्तिष्ठेत् कुम्भकः स हि विश्रुतः । योग. सा. सं.

का निरोध नहीं । सम्यक् चित्तनिरोध होने पर स्वाभाविकरूप से ही शरीर-निरोध भी होता है परन्तु शरीरनिरोध होने पर चित्त-निरोध अनिवार्यतः हो, यह आवश्यक नहीं है । योगांगभूत प्राणायाम भी चित्त-निरोध का ही एक क्रमिक सोपान है । अतः प्राणायाम का अभ्यास करते समय चित्त को किसी ध्येय विशेष पर आरूढ़ करना अत्यन्त आवश्यक है । अनेक ऐसे उदाहरण हैं जिनमें व्यक्ति आठ या दस दिनों तक निष्प्राण अवस्था में रह लेते हैं । कुछ व्यक्ति स्वेच्छा से अपने अंग विशेष को जड़वत् कर लेते हैं[1]।

उपर्युक्त ये तीनों प्राणायाम देश-परिदृष्ट, काल-परिदृष्ट एवं संख्या-परिदृष्ट इन भेदों से त्रिविध होते हैं । देश बाह्य एवं आध्यात्मिक-रूपेण द्विविध हैं । नासाग्र से श्वास की गति पर्यन्त बाह्यदेश एवं हृदय तक श्वास की गति आध्यात्मिक देश है । भाष्यकार के अनुसार "इतना इसका विषय है" इस प्रकार का परीक्षण ही देशपरिदृष्टि है । तात्पर्य यह है कि हृदयादि आध्यात्मिक एवं बाह्य देश इस सीमा तक श्वास प्रश्वास की गति एवं विधारण के द्वारा व्याप्त रहे । देश के परिमाण का परीक्षण ही देश परिदृष्टि है ।

इसी प्रकार से "इतने समय तक यह प्राणायाम रहा" यह प्राणायाम का काल परिदर्शन है । निमेषक्रिया का चतुर्थांश क्षण कहलाता है । क्षणों के द्वारा अवच्छिन्न श्वास, प्रश्वास एवं विधारण करना ही कालपरिदृष्ट प्राणायाम कहलाता है । उद्घातक्रम से प्राणायाम का जो कालावच्छेद होता है, वह संख्या परिदर्शनपूर्वक प्राणायाम कहलाता है । उद्घात के सम्बन्ध में विभिन्न व्याख्याकारों के विभिन्न मत प्रचलित हैं । विवेकानन्द ने

1- द्रष्टव्य पातंजलि योग दर्शन (हरिद्वार) पृ. 197

राजयोग में उद्घात का अर्थ कुण्डलिनी का जाग्रत होना ऐसा किया है। योगसिद्धान्त चन्द्रिका में उद्घात का लक्षण करते हुए कहा गया है कि प्राणवायु के गतिछेद होने पर अपानवायु नाभिमूल से ऊपर जाकर शिरो-भाग से टकराता है। अपानवायु का यह ऊपर जाकर टकराना ही उद्घात कहलाता है[1]। विज्ञानभिक्षु के अनुसार उद्घात श्वासप्रश्वासरोधमात्र है। भोजराज के मत में श्वास-प्रश्वास रुद्ध करने से उनके ग्रहण अथवा त्याग के लिए जो उद्वेग होता है वही उद्घात है[2]।

आरण्य इन सब बातों का समालोचन करके अपनी समन्वयात्मक प्रखर बुद्धि का परिचय देते हुए कहते हैं कि जितने समय तक श्वास अथवा प्रश्वास के रोध से वायु के त्याग या ग्रहण के लिए उद्वेग होता है, उतने समय तक का रोध ही उद्घात है[3]। यह उद्घात प्रायेण 12 मात्राओं वाला होता है। आचार्य उद्घात के सम्बन्ध में लिंग पुराण से उद्धरण देते हैं —

"नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्घात ईरितः ।
मध्यमस्तु द्विरुद्घातश्चतुर्विंशतिमात्रकः ॥"

अर्थात् द्वादश मात्रा वाला उद्घात नीच, चौबीस मात्रा वाला उद्घात मध्यम एवं 36 मात्राओं वाला उद्घात उत्तम होता है। इसी उद्घात के आधार पर प्राणायाम को क्रमशः मृदु, मध्य एवं तीव्र कहते हैं।

इसे श्वास प्रश्वास की सूक्ष्मता एवं विधारण का निरायास होना

1– प्राणेनोत्तरधर्मणेन अपानः पीड्यते यदा ।
गत्वा चोर्ध्वं निवर्तेत एतदुद्घातलक्षणम् ॥ यो. सि. चु.

2– उद्घातो नाम नाभिमूलात् प्रेरितस्य वायोः शिरस्यभिहननम् । रा. मा. सू. पृ. 51

3– श्वासाय प्रश्वासाय च य उद्वेगः स उद्घातः । भा. पृ. 271.

ही सूक्ष्म प्राणायाम है[1]। आचार्य के अनुसार ऐसा प्रश्वास जिसके द्वारा नासाग्र में रुई में भी स्पन्दन न हो, सूक्ष्म प्रश्वास होता है[2]।

प्राणायाम का एक और चतुर्थ प्रकार भी होता है[3]। यह भी एक प्रकार से स्तम्भवृत्ति ही है। लेकिन तृतीय एवं चतुर्थ प्रकार के प्राणायाम में स्पष्ट भेद है। तृतीय प्रकार के प्राणायाम बिना किसी पूर्वाभ्यास के एवं देशादि का परीक्षण किये बिना ही श्वासप्रश्वास गति का विच्छेद है। चतुर्थ केवल कुम्भक श्वास-प्रश्वास के देशादि परिदर्शन एवं अभ्यास करके एवं तत्पश्चात् उनका अतिक्रमण करने से सिद्ध होता है। इस केवल कुम्भक में रेचक एवं पूरक की बिल्कुल भी आवश्यकता नहीं होती है। यह केवल कुम्भक सर्वोत्तम प्राणायाम है।

आचार्य ने प्राणायाम की सम्पूर्ण प्रक्रिया अत्यन्त सरल शब्दों में पातंजलि योगदर्शन में समझाई है[4]। सर्वप्रथम सुस्थिर आसन में आसीन होकर वक्ष स्थिर रख कर उदर संचालन के द्वारा श्वास प्रश्वास करते हैं। इस श्वास प्रश्वास के समय वक्षस्थल के अन्दर अर्थात् हृदय में शुभ्र, सर्वव्यापी, अनन्त आकाश या शून्य की भावना करनी चाहिए। इसके लिए मन को शून्य बनाकर शून्य में ही रेचन एवं पूरण हो रहा है ऐसी भावना करनी चाहिए। क्रमशः बाह्यवृत्ति एवं आभ्यन्तरवृत्ति का अभ्यास करना चाहिए। बीच-बीच में स्तम्भवृत्ति का भी अभ्यास करना चाहिए। अन्यदा स्वाभाविक

1- स प्राणायाम एवमभ्यस्तो दीर्घकालव्यापी तथा सूक्ष्मः सुलावित्वात् श्वासप्रश्वासयोः सूक्ष्मतया सूक्ष्म इति। भा. पृ. 272

2- द्रष्टव्य - पातंजल-योगदर्शन {हरि. आ.} पृ. 201.

3- बाह्याभ्यंतरविषयाक्षेपी चतुर्थः। यो. सू. —2-51.

4- पातंजल-योगदर्शन {हरि0आ0} पृ. 202 से 204.

रेचक पूरण कर वाताशय में अल्पायु रहने के कारण एक बार आभ्यन्तरिक प्रयत्न से फुफ्फुस का संकोच करके श्वास प्रश्वास का नियमन करना चाहिए। इससे फुफ्फुस तथा संपूर्ण शरीर में सात्विक सुखमय बोध उत्पन्न होता है। इस सुखबोध के कारण बहुत काल तक इस स्थिति में रहना सम्भव होता है। स्तम्भवृत्ति के पश्चात् अनेक बार रेचन पूरण करना चाहिए। यह स्तम्भवृत्ति ही अन्ततः चतुर्थ अर्थात् सर्वोत्कृष्ट प्राणायाम में रूपान्तरित होती है।

प्राणायाम की साधना करने वालों को चेतावनी देते हुए आरण्य कहते हैं कि प्राणायाम के नियमों का सम्यक् पालन न करने पर अनेक अनिष्ट हो सकते हैं यथा व्यक्ति मानसिकक्षीण रूग्ण अथवा पागल भी हो सकता है। अतः स्वास्थ्य एवं शारीरिक सामर्थ्य के अनुसार ही प्राणायाम करना चाहिए।

प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश पर पड़ा हुआ आवरण क्षीण हो जाता है[1]। योगी के विवेकज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म संस्कारों का समूह प्राणायाम के अभ्यास से दुर्बल होकर क्रमशः प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है। इस संदर्भ में भाष्यकार उद्धरण देते हैं — "तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति।" अर्थात् प्राणायाम से सर्वश्रेष्ठ अन्य कोई तप नहीं है। इससे मलों की शुद्धि एवं ज्ञान की प्राप्ति होती है। आरण्य भी प्राणायाम के महात्म्य के लिए स्मृतिवचन को मानते हैं।--

इसके अतिरिक्त प्राणायाम के सतत अभ्यास से धारणा करने में

1- ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। यो. सू. 2-52

मन की सामर्थ्य होती है[1]। अर्थात् मन धारणा के योग्य हो जाता है। प्राणायाम में बाह्य अथवा आध्यात्मिक भावना चित्त को करनी पड़ती है। ऐसा अभ्यास करने से चित्त योगाभिमुख धारणा के लिए उपयुक्त एवं समर्थ बन जाता है।

प्रत्याहार — अपने (अर्थात् इन्द्रियों के) विषयों के साथ सन्निकर्ष न होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप का अनुकरण सा करना प्रत्याहार कहलाता है[2]। प्रत्याहार का शाब्दिक अर्थ — वापस लौटाना अर्थात् इन्द्रियों को स्वविषयग्रहण से वापस लौटा कर लाना। इससे चित्त के निरुद्ध हो जाने पर इन्द्रियों का कार्य भी निरुद्ध हो जाता है। एवं चित्त एकाग्र मन से ध्यान करने के योग्य हो जाता है। इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि इन्द्रियां स्वविषयों से विमुख होकर चित्त के आकार को ही ग्रहण-सा कर लेती हैं अर्थात् जिस प्रकार चित्त बाह्य विषयों के ग्रहण से पराङ्मुख हो जाता है उसी प्रकार इन्द्रियां भी बाह्य विषयों को ग्रहण नहीं करती हैं[3]। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियां पूर्णतया चित्त के स्वाधीन हो जाती हैं एवं चित्त के निरुद्ध होने पर स्वयं भी निरुद्ध हो जाती हैं। चित्त एवं इन्द्रियों के इस सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार रानी मक्खी का एक सुन्दर उदाहरण देते हैं[4]। जब

1- धारणासु च योग्यता मनसः। यो. सू. 2-53.

2- स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। यो. सू. 2-54

3- चित्तनिरोधे भावः तर्हि स्मृ सति उदर चित्तस्वरूपानुकारवन्तीवेन्द्रियाणि भवन्ति स एव प्रत्याहारः यदा चित्ते निरुद्धे इन्द्रियाण्यपि निरुद्धानि विषयग्रहणहीनानि भवन्ति। भा. पृ. 277.

4- यथा मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमुत्पतन्ति, निविशमानमनु निविशन्ते, यथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानि, इत्येष प्रत्याहारः। यो. भा. सू. 2-54

मधुमक्खियाँ नया छत्ता बनाने के लिए स्थान का चयन करती हैं तो रानी मक्खी सबसे आगे रहकर मार्ग निर्देश करती है एवं अन्य सभी मक्खियाँ उस का अनुसरण करती हैं। इसी प्रकार से चित्त एवं इन्द्रियों का भी है कि चित्त के निरुद्ध होने पर सम्पूर्ण इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं। आशय यह है कि इन्द्रियों के इस प्रकार से निरुद्ध हो जाने से इन्द्रिय जय के लिए अन्य दूसरे उपायों का विधान नहीं करना पड़ता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान कृष्ण प्रत्याहार के विषय में कहते हैं—

"यदा संहरते चायं कूर्मोंगानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता[1]।"

अर्थात् जिस प्रकार कछुआ सब ओर से अपने अंगों का संकुचन कर लेता है, उसी प्रकार जब पुरुष अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से अलग कर लेता है, तब वह स्थिरबुद्धि कहा जाता है।

ध्यान एवं समाधिलाभ के लिए प्रत्याहार अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य के अनुसार प्रत्याहार सिद्धि के लिए बाह्य विषयों पर ध्यान न देना एवं मनसभाव लेकर रहना अनिवार्य है[2]।

इन्द्रियों के ऊपर प्रत्याहार के सिद्ध होजाने पर परम अधिकार प्राप्त हो जाता है[3]। इन्द्रियों की इस परवशयता के सम्बन्ध में कुछ मतभेद विद्वानों में परिलक्षित होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि शब्दादि

1- द्रष्टव्य श्रीमद्भगवद्गीता (2-58).

2- द्रष्टव्य— पातंजल-योगदर्शन - (हरि. आ.) पृ. 206.

3- ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। यो. सू. 2-55

विषयों में आसक्ति न होना ही इन्द्रियजय है। कुछ के मत में स्वेच्छा से इन्द्रियकृत भोग ही इन्द्रियजय है। कुछ अन्य विद्वान विषयों के प्रति राग-द्वेषादि से शून्यचित्त होकर विषयानुभव को ही इन्द्रियजय मानते हैं। परन्तु आरण्य का मत है कि ये तीनों प्रकार के इन्द्रियजय परमार्थ में निम्नश्रेणी के हैं। इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस ने अग्नि के दाहकत्व गुण को समझ लिया है वह अनासक्तभाव से भी अग्नि का स्पर्श नहीं करेगा[1]।

जैगीषव्य के मत का अनुमोदन करते हुए आचार्य कहते हैं कि चित्त की एकाग्रता होने के कारण इन्द्रियों के विषयभोग का सर्वथा अभाव ही वास्तविक इन्द्रियजय है। इस प्रकार का यह सर्वोत्कृष्ट इन्द्रियजय प्रत्याहार का ही फल है।

धारणा — चित्त का किसी देश में स्थापित होना ही धारणा है[2]। एकदेश में स्थापन का अर्थ है चित्त को अन्य सब विषयों या स्थलों से हटा कर किसी एकस्थल में स्थिर करना। यही धारणा है।

धारणा द्विविध होती है। नाभिचक्र, अनाहतचक्र, नासिकाग्र, जिह्वाग्र, भ्रूमध्य, ब्रह्मरन्ध्र इत्यादि आध्यात्मिक देश कहे जाते हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक विषयों के अतिरिक्त बाह्य प्रदेशों में चित्त का केवल सात्त्विकवृत्ति के द्वारा सम्बन्ध स्थापन करना ही धारणा है। आचार्य के अनुसार बाह्य विषयों के साथ चित्त का साक्षात् सम्पर्क न होने के कारण केवल ज्ञान के द्वारा चित्त को उनमें लगाना ही धारणा

1- द्रष्टव्य— पातंजलयोगदर्शन— हरि. आ. पृ. 207.

2- देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। यो0 सू0 3-1.

में अभिप्रेत है[1]।

वैषयिक धारणा में बुद्धितत्त्व की धारणा एवं शब्द तथा ज्योति की धारणा मुख्य है। शब्द धारणा में अनाहत नाद की धारणा मुख्य है। एवं शंखनाद, घंटानाद, करतलनाद आदि ही अनाहत नाद के भेद हैं। आरण्य ने अनाहत नाद का विस्तृत स्पष्टीकरण एवं इसी सम्बन्ध में कुण्डली के स्वरूप का भी सुन्दर विवेचन पातंजलयोगदर्शन में किया है[2]।

ध्यान — विषय में ज्ञान की एकतानता ही ध्यान है[3]। अर्थात् धारणा के विषयभूत हृत्कमलादि प्रदेश में ज्ञानवृत्ति का अभिन्न प्रवाह ही ध्यान है। आचार्य ध्यान की एकतानता की तुलना तैल की अजस्र धारा से करते हुए कहते हैं कि तैल की धारा के समान ज्ञानवृत्ति का अविरल अजस्र प्रवाह ही ध्यान है[4]। यह ज्ञानवृत्ति का प्रवाह अन्य वृत्तियों से मिश्रित नहीं होना चाहिए। धारणा एवं ध्यान का अंतर स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि धारणा में चित्त किसी एक प्रदेश में स्थापित हो जाता है। परन्तु यह ध्येय प्रदेश विषयक ज्ञान खंडखण्ड रूप धारावाहिक रूप से रहता है। परन्तु वही जब निरन्तर अभ्यास के द्वारा एकतान, अखंड एवं अजस्र धारा के समान हो जाता है तो ध्यान कहलाता है। एकतान प्रत्यय में केवल एक ही वृत्ति उदित रहती है। आचार्य के अनुसार धारणाज्ञान जलबिन्दु धारा के सदृश एवं ध्यान का ज्ञान तैलधारा के सदृश है। यही दोनों में अन्तर है।

1- आहये तु देशे वृत्तिमात्रेण बन्धः तद्विषयया वृत्त्या चित्तं बध्यते। भा. पृ. 283.

2- द्रष्टव्य पातंजल-योगदर्शन, पृ. 210 से 213 तक.

3- तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। यो० सू० 3-2.

4- धारणाश्रयत्वे देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्य वृत्तेर्या एकतानता तैलधारावदेकतानप्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टः अन्यया वृत्त्याऽमिश्रितः प्रवाहस्तद्ध्यानम्। भा. पृ. 283.

पौर्वापर्य के आधार पर पहले धारणा होती है एवं तत्पश्चात् धारणा से बारम्बार अभ्यास के द्वारा ध्यान होता है । ईश्वरगीता में ध्यान की कालसीमा द्वादशधारणा पर्यन्त निर्धारित की गयी है — "ध्यानं द्वादशधारणा" । अर्थात् जितनी देर चित्त द्वादश बार धारणा करे उतनी देर यदि ज्ञानवृत्ति एकतान रूप से प्रवाहित हो तो वह ध्यान कहलाता है ।

समाधि — केवल अर्थमात्र को प्रकाशित करने वाला अपने ज्ञानात्मक रूप से भी शून्य-सा ध्यान ही समाधि है[1]। अर्थात् समाधि एक प्रकार का ध्यान ही है, ध्यान से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं । आचार्य के मत में जब ध्यान ध्येयाकारनिर्भास अर्थात् ध्येय के ज्ञान से व्यतिरिक्त अन्य ज्ञान से रहित तथा अपने ज्ञानात्मक एवं ग्रहणात्मक रूप से भी शून्य हो जाता है, तब वह समाधि कहलाता है[2]।

आरण्य के अनुसार समाधि यह शब्द पारिभाषिक है एवं ध्यान के चरमोत्कर्ष का ही नाम समाधि है[3]। जब सतत् ध्यान करते-करते आत्म-विस्मरण हो जाए एवं केवल ध्येय-विषयक सत्ता का ही ज्ञान हो तथा ध्येय से अपना अभिन्नत्व स्थापित हो जाए, ध्येय विषय पर उस प्रकार का चित्तस्थैर्य ही समाधि कहलाता है ।

समाधि साधना के क्रमिक सोपानों का उल्लेख करते हुए आचार्य कहते हैं

1- तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः । यो. सू. 3-3

2- ध्यानमेव यदा ध्येयाकारनिर्भासं ध्य[illegible]ज्ञानहीनम्, प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव ध्येयविषयस्य प्रख्यातौ तद्विषय एवा हित नात्यद् ग्रहणादि किंञ्चिदितीव ध्येयस्वभ[illegible], भवति तदा तद्ध्यानं समाधिरित्युच्यते, भा. पृ. 284.

3- पारिभाषिकोऽयं समाधि शब्दो ध्येय विषये चित्तस्थैर्यस्य काष्ठावाचकः भा. पृ. 284.

कि समाधिरूप इस चित्तस्थैर्य को प्राप्त करके गृहीतृ ग्रहण ग्राह्य विषयक सम्प्रज्ञान को सिद्ध करना चाहिए। इस सम्प्रज्ञान के सिद्ध होने पर सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। तब उस सम्प्रज्ञान के भी निरोध करने पर सर्ववृत्तिनिरोधरूपिणी असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है[1]।

बृहदारण्यक उपनिषद् में समाधि के विषय में कहा गया है —शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः, समाहितो भूत्वा, आत्मन्येवात्मानं पश्यति।" समाधि के बिना आत्मसाक्षात्कार एवं परमार्थसिद्धि नहीं हो सकती। कठोपनिषद् में भी वर्णित है —

"नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात।"

विज्ञानभिक्षु के अनुसार द्वादश ध्यान पर्यन्त चित्त की स्थिरता से समाधि होती है[2]।

धारणा, ध्यान एवं समाधि ये तीनों योगसाधन के अन्तरंग कहे जाते हैं। धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों एकत्र अर्थात् एक ही आलम्बनगति होने पर "संयम" कहे जाते हैं[3]। अतः इनकी सम्मिलित रूप में शास्त्रीय परिभाषा संयम है[4]।

इस संयम जय से समाधिप्रज्ञा का आलोक होता है[5]। संयम में जितनी

1- समाधिरूपमिदं चित्तस्थैर्यं लब्ध्वा ग्रहीतृग्रहणग्राह्यविषयकं सम्प्रज्ञानं साधयेत्, तस्मिन्, सिद्धे सम्प्रज्ञातःसमाधिर्भवति, ततः सम्प्रज्ञानस्यापि निरोधात्, सर्ववृत्तिनिरोधरूपो असम्प्रज्ञातः समाधिः। भा. पृ. 284

2- ध्यान द्वादशकं यावत्समाधिरभिधीयते। यो. सा. सं.

3- त्रयमेकत्र संयमः। यो.सू. 3-4

4- तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति। यो.भा. 3-4।

5- तज्जयात्प्रज्ञालोकः। यो. सू. 3-5

स्थिरता होती है, समाधिप्रज्ञा भी उतनीही अधिक निर्मल होती है। अर्थात् जितने सूक्ष्मतर विषय में संयम किया जाता है, उतनी ही प्रज्ञा अधिक निर्मल होती है। उस संयम का भूमियों में विनियोग करना चाहिए[1]।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार इन पाँचों की तुलना में धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरंग माने जाते हैं[2]। क्योंकि इन तीनों के सिद्ध होने पर ही सम्प्रज्ञात होता है। फिर भी असम्प्रज्ञात समाधि के ये बहिरंग ही कहे जाते हैं। असम्प्रज्ञात समाधि का अन्तरंग तो परवैराग्य होता है। उसके ये भी बहिरंग हैं[3]।

इस प्रकार से अष्टांग योग की साधना से अज्ञानावरण का नाश एवं सम्प्रज्ञान तथा प्रज्ञालोक का उदय होता है। एवं तब क्रम से सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है।

1- तस्य भूमिषु विनियोगः। यो. सू. 3-6.

2- त्रयमन्तरंगम्पूर्वेभ्यः। यो. सू. 3-7.

3- तदपि बहिरंगं निर्बीजस्य। यो. सू. 3-8.

***

परिणामवाद

सांख्य योग में सृष्टि की प्रक्रिया के प्रश्न को परिणामवाद के द्वारा सुलझाया गया है। परिणामवाद के अनुसार यह जगत् मूल प्रकृति का ही परिणाम अथवा कार्य है। प्रकृति से क्रमशः महत्, अहंकार, एकादश इन्द्रियाँ, पंचतन्मात्राएं एवं पंच महाभूत उत्पन्न होते हैं[1]। पंच महाभूतों तक हुए परिणामों को तत्त्वान्तर परिणाम कहते हैं क्योंकि इनमें कार्यकारणभाव में दोनों तत्त्वों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व रहता है।

इस तत्त्वान्तर परिणाम के पश्चात् भी अनेक परिणाम होते हैं। इन परिणामों से धर्मी के धर्मों में परिवर्तन होता है। ये भी परिणाम धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम एवं अवस्था परिणाम इस भेद से त्रिविध हैं। सांख्य दर्शन के अन्तर्भूत इन त्रिविध परिणामों के अतिरिक्त योगदर्शन में चित्त के सभी त्रिविध परिणाम माने गये हैं जो कि निरोध परिणाम, समाधि परिणाम एवं एकाग्रता परिणाम इन नामों से प्रसिद्ध हैं। योग की जिन अवस्थाओं में चित्त के ये परिणाम होते हैं इस प्रश्न को लेकर व्याख्याकारों में कुछ मतभेद है। आचार्य के अनुसार चित्त का एकाग्रता परिणाम समाधि मात्र से होता है। चित्त का समाधि-परिणाम सम्प्रज्ञात योग की अवस्था में होता है एवं इसी प्रकार चित्त का निरोध परिणाम असंप्रज्ञात योग की अवस्था में होता है[2]। वाचस्पति मिश्र का भी यही मत है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार चित्त की वह अवस्था जब वह ध्येय विषय के प्रति विक्षेपों के कारण पूर्णतः केन्द्रित नहीं हो पाता है

1- प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।

तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्यः पंचभूतानि। सां० का० 22.

2- द्रष्टव्य- पात. यो. दर्शन (हरि०आ०) पृ. 222.

चित्त का समाधिपरिणाम है ।

विक्षेपों से रहित होकर जब चित्त ध्येय आलंबन पर केन्द्रित हो जाए तो वह एकाग्रता परिणाम है एवं सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात द्विविध योग की क्लिष्ट वृत्तियों से शून्य निरोधात्मक चित्त का निरोध परिणाम होता है । परन्तु निरोध परिणाम के विषय में विज्ञान भिक्षु का यह मत उचित नहीं है क्योंकि सम्प्रज्ञात योग की भूमि में चित्तवृत्ति बनी ही रहती है एवं केवल निरुद्धावस्था अर्थात् असम्प्रज्ञात योग में ही वृत्तियों का लय होकर निरोध संस्कार अवशिष्ट रहते हैं ।

इसके अतिरिक्त भाष्यकार को भी यही अभिप्रेत है कि निरोध परिणाम के समय में चित्त निरोध संस्कार मात्र के रूप में अवशिष्ट रहता है[1]। अतः आचार्य का मत ही अधिक रुचिकर एवं रमणीय है ।

आचार्य के अनुसार निरुद्धावस्था में प्रत्ययों का अभाव होने के कारण निरोध परिणाम केवल संस्कारों का होता है[2]। तथापि परिणाम प्रत्यय एवं संस्काररूप चित्तधर्म का होता है[3] एवं एकाग्रता परिणाम प्रत्ययरूप चित्तधर्म का होता है[4]।

भास्वती में चित्त के इन त्रिविध परिणामों को क्रमानुसार सुन्दर रीति से समझाया गया है । इस परिणाम की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए

1- तदा संस्कारशेषं चित्तमिति निरोधसमाधौ व्याख्यातम् । यो. भा. सू. 3-9.

2- निरोधे प्रत्ययाभावात् संस्कारधर्माणामेवात्र परिणाम एकस्य धर्मिणश्चित्तस्येति। भा. पृ. 291.

3- अत्र प्रत्ययधर्माणां संस्कारधर्माणाञ्चान्यथाभावः । भा. पृ. 292.

4- अस्मिन् प्रत्ययधर्माणामेवान्यथाभावः । भा. पृ. 293.

आचार्य कहते हैं कि पहले विसदृश प्रत्ययों का सदृशीकरण होकर एकाग्रता परिणाम होता है तब सर्वार्थता रूप प्रत्ययों के संस्कार क्षीण हो जाते हैं एवं एकाग्रतारूप प्रत्ययों के संस्कार प्रबल होते हैं फलस्वरूप चित्त का समाधि परिणाम होता है। अन्त में विवेकख्याति होने से परवैराग्य के अभ्यास होने पर योगी जब चित्त को निरुद्ध कर लेता है तब वह चित्त का निरोध परिणाम होता है[1]।

इन त्रिविध परिणामों में से चित्त के एकाग्रता परिणाम को सूत्रबद्ध करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि चित्त में समान रूप से ज्ञानों का शान्त और उदित होते रहना चित्त का एकाग्रता परिणाम है[2]।

चित्त में अनेकाग्रता का तिरोभूत होना एवं एकाग्रता का प्रादुर्भाव होना चित्त का समाधि परिणाम है[3]। एकाग्रता एवं अनेकाग्रता दोनों ही चित्त के धर्म हैं।

चित्त स्वयं में होने वाले धर्मों अर्थात् सर्वार्थता का तिरोभाव एवं एकाग्रता का प्रादुर्भाव इनसे युक्त होकर समाहित होता है। यही चित्त का समाधि परिणाम कहलाता है।

- गुण पदार्थ का जो आश्रयभूत है वही धर्मी है। घट यह ज्ञातगुण

1- तस्मादौ विसदृशप्रत्ययानां सदृशीकरणं तादृशः एकाग्रतापरिणामरूपः समाधिर्भवति, ततः समाधिसंस्काराधानात् सर्वार्थतारूपा ये प्रत्ययसंस्कारास्ते क्षीयन्ते, एकाग्रतारूपाश्च प्रत्ययसंस्कारा वर्धन्ते, ततः पुनर्निरोधप्रातिलम्बे निरोधसंस्कारः प्रचीयते, व्युत्थानसंस्कारा क्षीयन्ते, एवं चित्तस्य परिणामः भो.वृ. 293.

2- ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः. यो.सू. 3-12.

3- सर्वार्थैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः। यो.सू. 3-11.

अथवा अभिव्यक्त स्वरूप का होने के कारण धर्म एवं मृत्तिका इस घट का आश्रय अथवा आधारभूत द्रव्य होने के कारण धर्मी है[1]। धर्मी को उत्पन्न करने के लिए धर्मी में जो विक्रिया होती है, वही भाष्यकार के अनुसार धर्म परिणाम है[2]।

यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि धर्मी में धर्म परिणाम के द्वारा भावान्यथात्व ही होता है, द्रव्यान्यथात्व नहीं[3]। अर्थात् धर्मी मृत्तिका का स्वरूपतः नाश नहीं होता है। घटादि रूप में परिणाम होने पर भी मृत्तिका, मृत्तिका ही रहती है। अन्य कोई दूसरा द्रव्य नहीं हो जाती। आचार्य इसी को सरल शब्दों में कहते हैं कि भावान्यथात्व का अर्थ है धर्मी घट अतीत होकर धर्मरूपघट वर्तमान में अभिव्यक्त हो जाता है- धर्मी का नाश नहीं होता है। यही धर्मी का भावान्यथात्व है।

बौद्धों के आक्षेप का निराकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि बौद्धों का धर्मी में कूटस्थ नित्यता का आक्षेप करना अनुचित है क्योंकि सांख्ययोग में केवल पुरुष को ही कूटस्थ नित्य माना गया है। पुरुष के अतिरिक्त सभी तत्त्व परिणामशीलता के कारण कूटस्थ नित्य नहीं हैं[4]। इस प्रसंग में आचार्य स्पष्ट करते हैं कि ये धर्मी एकान्त अनित्य भी नहीं हैं परिणाम प्रक्रिया में धर्मी जो अतीतावस्था में अव्यक्त हो जाता है उसके आधार पर धर्मी को शशश्रृंग अथवा आकाशकुसुम के समान एकान्त

1- धर्मःज्ञातगुणः धर्मी ज्ञातगुणानामाश्रयः, कारणस्य धर्मःकार्यस्यधर्मी, अतो धर्मो धर्मिस्वरूपमात्रः घटत्वादिधर्मास्तद्धर्मिमृत्स्वरूपा एवेत्यर्थः भा.पू. 297.

2- धर्मिणो विक्रिया परिणामः। भा.पू. 297.

3- धर्मिणि वर्तमानस्य धर्मस्य निवृत्तत्वात् भावान्यथात्वम् अवस्थान्यत्वम् भवति न द्रव्यान्यथात्वम् एकस्य एव धर्मो अतीतो अनागतो वा वर्तमानो वा भवत्यर्थः। भा.पू. 298.

4- अस्मिन्नेतद्द्वयं परिणामनित्यं न कूटस्थनित्यम्।

अनित्य भी नहीं प्रतिपादित किया जा सकता है । केवल नित्य होना ही कूटस्थता की कसौटी नहीं है क्योंकि प्रकृति नित्य है परन्तु फिर भी कूटस्थ नहीं है । अपरिणामी नित्य ही कूटस्थ होता है जो कि पुरुष से व्यतिरिक्त अन्य नहीं है । नित्य प्रकृति भी विमर्द वैचित्र्य के कारण विकारशील है । विज्ञानभिक्षु ने विमर्द वैचित्र्य का अर्थ कौटस्थ्य से वैलक्षण्य माना है । आचार्य के अनुसार भिक्षु के इस अर्थ के अतिरिक्त विमर्द वैचित्र्य का एक और भी अर्थ हो सकता है । यह है गुणों की न्यूनाधिकता के कारण पारस्परिक अभिभाव्य अभिभावकतारूप वैचित्र्य अथवा नानात्व । फलतः प्रकृति ही नित्य है ।

लक्षण परिणाम — काल ही को योगदर्शन में "लक्षण" कहते हैं । आचार्य के अनुसार लक्षण परिणाम के द्वारा एक काल की वस्तु का दूसरे काल की वस्तु से भेद लक्षित होता है[1] । अर्थात् वर्तमानादि कालविशिष्ट धर्म का वर्तमानादिलक्षण को त्याग कर अतीत अथवा आगत लक्षण का ग्रहण करना ही धर्म का लक्षण परिणाम है । कालभेद की दृष्टि से लक्षण परिणाम भी त्रिविध हैं । अनागत लक्षण-परिणाम, वर्तमान लक्षण परिणाम एवं अतीत लक्षण परिणाम ।

चित्त के निरोध परिणाम के संदर्भ में धर्मी चित्त में अनागत अवस्था के निरोध संस्कारों का अपनी अनागतावस्था त्यागते हुए वर्तमानावस्था प्राप्त करना लक्षण परिणाम है[2]।

1- लक्षण परिणामः- लक्षणं कालः, अनागताद्यवर्तमानकाललक्षितत्वा यद् भेदेन मननम् । भा.पृ. 294.

2- अनागतं निरोधोऽनागतलक्षणम् अध्वानं प्रथमं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तः प्राप्तो निरोधोऽनागतो धर्म आसीत् स एव वर्तमानधर्मो भूत् इत्यर्थः भा.पृ. 294.

धर्म परिणाम एवं लक्षण परिणाम इन दोनों के अधिकरण में भेद है । धर्म परिणाम का अधिकरण धर्मी एवं लक्षण परिणाम का अधिकरण धर्म होता है । लौकिक उदाहरण के अनुसार धर्म परिणाम के द्वारा धर्मी मृत्तिका में परिणाम होता है एवं लक्षण परिणाम के द्वारा धर्म घट में परिणाम होता है । आचार्य के अनुसार धर्मी का परिणाम धर्म के अन्यथात्व के द्वारा कहा जाताहै[1]। इसी प्रकार धर्म का परिणाम लक्षण के अन्यथात्व के द्वारा सूचित होताहै ।

धर्म परिणाम के समान ही लक्षण परिणाम के द्वारा भी धर्म नष्ट नहीं होता है । लक्षण परिणाम के संदर्भ में भाष्यकार ने इसी को स्पष्ट करने के लिए "धर्मत्वमनतिक्रान्त" यह कहा है[2]।

उल्लेखनीय है कि त्रिविध लक्षण परिणाम अविमुक्त रह कर भी अध्वसांकर्य दोष से रहित है । भाष्यकार इसी को समझाते हैं कि क्रोधभाव के अभिव्यक्ति काल में राग की अभिव्यक्ति न होने के कारण चित्त को रागशून्य नहीं कहा जा सकता है क्योंकि क्रोध शांत होने के पश्चात पुनः रागभाव अभिव्यक्त हो जाता है । सांकर्य दोष के निरसन प्रसंग में आचार्य दृष्टान्त देते हैं कि "मेरे (मृत) पिता जी थे" इसमें अवर्तमान पदार्थ के साथ अतीत अध्वा का संयोग हुआ है, ऐसी शंका करना अनुचित है क्योंकि यहां पर भी वर्तमान स्मृति के साथ अतीत अध्वा

1- तत्र धर्मपरिणामः धर्मीणामन्यथात्वम् । भा. पृ. 294.

2- स खल्वनागतलक्षणमध्वानं प्रथमं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तो वर्तमानं लक्षणं प्रतिपन्नो यत्रास्य स्वरूपेणाभिव्यक्तिः । यो. भा. सू. - 3-13.

का योग होता है[1]।

अवस्था परिणाम — एक ही काल के अन्तर्गत होने वाले परिणामों को अवस्था परिणाम कहते हैं । अवस्था परिणाम की ही सहायता से लक्षण परिणाम के द्वारा धर्म का एक काल से दूसरे काल में परिणाम होता है । यह अवस्था परिणाम भी धर्म से ही हुआ करता है । अवस्था परिणाम को समझाते हुए आचार्य कहते हैं कि एक ही हीरा नया और कुछ समय के पश्चात् पुराना कहा जाता है । यहाँ पर एक ही हीरा रूप वर्तमान धर्म में पुराना और नया इस भाव से भेद किया जाता है । इसी प्रकार घट जो वर्ष भर वर्तमान लक्षण में रहता है, वह भी नया, कम नया, नाम मात्र का नया, पुराना, जर्जर इत्यादि रूपों में हुआ जीर्ण अवस्था परिणाम है ।

इसी प्रकार संसार की सभी वस्तुओं में अवस्था परिणाम होता रहता है । चित्त के निरोध परिणाम के संदर्भ में निरोध संस्कारों का अवस्था परिणाम व्युत्थान संस्कारों की दुर्बलता एवं निरोधसंस्कारों की प्रबलता इन रूपों में हमें ज्ञात होता है । अवस्था परिणाम का ज्ञान धर्म परिणाम के सदृश प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं होता है प्रत्युत उसका अनुमान किया जाता है[2]। आचार्य के अनुसार धर्म परिणाम एवं लक्षण परिणाम से अवस्था परिणाम का यह वैशिष्ट्य है कि धर्म एवं काल की भेद की

1- द्रष्टव्य—पात0यो0 दर्शन {हरि0आ0} पृ0 234.

2- धर्म परिणाम इवावस्थापरिणामे प्रतिक्षणक्रमो न प्रत्यक्षीक्रियत इति तमनुमानेन साधयति । यो0 वा0 पृ0 3.15

विवक्षा न होने पर भी अवस्था की अपेक्षा से जो भेद कथन किया जाता है वह अवस्था परिणाम कहलाता है[1]।

भाष्यकार का कथन है कि पारमार्थिक दृष्टि से वस्तुतः परिणाम एक ही है[2]। यह कथन वास्तविक है। अपने मत के समर्थन में वे कहते हैं कि धर्म एवं लक्षण दोनों परिणामों से एक विशिष्ट अवस्था का ही ज्ञान होता है। अतः अवस्था परिणाम में दोनों ही परिणामों का अन्तर्भाव हो जाता है।

वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु एवं आरण्य ने धर्मपरिणाम को ही वास्तविक माना है। आरण्य का कथन है कि धर्म परिणाम ही एकमात्र यथार्थ है अन्य दोनों काल्पनिक हैं[3]। अपने मत के समर्थन में उनका कहना है कि धर्म धर्मी रूप ही होता है, अन्य दूसरा कोई तत्व नहीं।

त्रिगुणात्मक प्रकृति के गुणों में वैषम्य होने से महदादि परिणाम होता है। इसी धर्मादि त्रिविध परिणाम के फलस्वरूप यह समस्त चराचर जगत अपने नानारूपों के साथ अभिव्यक्त होता है। अवस्थित द्रव्य के पूर्व धर्म की निवृत्ति होकर अन्य धर्म की उत्पत्ति ही परिणाम है[4]।

1- धर्मलक्षणाभ्यां विशिष्टः धर्मलक्षणभेदविवक्षा असत्येऽपि तदा यो यदअवस्थापेक्षया भेदवचनं स तृतीयोऽयं परिणामः। भा. पृ. 316.

2- परमार्थस्त्वेक एव परिणामः। यो0 भा0 सू0 3-13.

3- यथार्थत एक एव धर्मपरिणामोऽत्यन्यौ काल्पनिकौ। भा.पृ. 297.

4- अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः। यो. भा. सू. 3-13.

...

धर्ममेघ समाधि

विवेकख्याति में भी वीतराग (योगी) को सर्वथा विवेकख्याति होने से धर्ममेघ समाधि होती है इसी स्थिति को धर्ममेघ समाधि कहते हैं[1]। विवेकख्याति के फलस्वरूप योगी को सार्वज्ञसिद्धिलाभ होता है। धर्म, समाधि के लिए इस सिद्धि के प्रति औदासीन्य आवश्यक है। जिस प्रकार मेघ जलवर्षा करते हैं उसी प्रकार धर्ममेघ समाधि क्लेश कर्मादि के उन्मूलक धर्म की अविरल वर्षा करती है[2]।

पातंजलरहस्यकार राघवानन्द सरस्वती के अनुसार धर्ममेघ समाधि ही परवैराग्य है किन्तु यह मत उचित नहीं है[3]। दोनों अवस्थाओं में बहुत अन्तर है। परवैराग्य में योगी को विवेकख्याति से भी वैराग्य हो जाता है जबकि धर्ममेघ समाधि में विवेकख्याति से उत्पन्न सार्वज्ञत्वादि सिद्धि से वैराग्य होता है एवं विवेकख्याति अविरल बनी रहती है। परवैराग्य में योगी विवेकख्याति का भी निरोध करता है परंतु धर्ममेघ समाधि में योगी को निरन्तर विवेकख्याति बनी रहती है। सम्प्रज्ञात समाधि का अंतिम सोपान ही धर्ममेघः है।

धर्ममेघ समाधि के द्वारा अविद्याअस्मितादि सभी क्लेशों का समूल से नाश हो जाता है। पुण्य एवं पाप सभी प्रकार के कर्माशय पूर्णतया बन्द हो जाते हैं। अज्ञानादि क्लेश ही जन्म के कारण हैं

1- प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघस्समाधिः यो. सू. 4-29.

2- क्लेशकर्मादीनां निःशेषेणोन्मूलकं धर्मं मेहति धर्मतीति धर्ममेघः। यो. वा. पृ. 4

3- ततो धर्ममेघः समाधि परवैराग्यं स्यात् तथा व्युत्थानसंस्कारक्षयात् प्रत्ययान्तराणि नोत्पद्यन्ते। — पातंजलिरहस्यम्, पृ. 446.

अतः उनका नाश हो जाने पर योगी जीवित रहते हुए भी मुक्त हो जाता है। इस अवस्था में प्रारब्ध संस्कारों के अतिरिक्त अन्य सभी संस्कारों का दाह हो जाता है। इस दशा में योगिजन जो भी कार्य करते हैं वह इच्छानुसार निर्माणचित्त के द्वारा करते हैं।

विवेकख्याति के पश्चात् एवं पूर्ण निरोध के उदय की दशा ही जीवन्मुक्तावस्था है। कर्मनिवृत्ति के कारण उनका पुनर्जन्म नहीं होता है। एवं वे प्रारब्ध कर्म संस्कारों के फलोपभोग करते हुए उनके भी निरुद्ध हो जाने की प्रतीक्षा करते रहते हैं। आचार्य इसको स्पष्ट करते हुए उदाहरण देते हैं कि जिस प्रकार तेल का दिया और अधिक तेल न डालने पर धीरे-धीरे बुझ जाता है उसी प्रकार अन्य नवीन संस्कार न बनने के कारण योगी का भी पुनर्जन्म नहीं होता है।

धर्ममेघ समाधि के उदय होने से समस्तक्लेशादि आवरणों से हीन होने के कारण शुद्ध ज्ञान अत्यन्त एवं ज्ञेयविषय अत्यल्प हो जाता है। रजस् एवं तमस् वृत्तियाँ ही सत्वात्मक ज्ञान के लिए आवरण के समान हैं रजस् एवं तमस् के कारण साधारणजनों को ज्ञान की अनन्तता का आभास ही नहीं हो पाता। पर जब विवेकख्याति के द्वारा राजस् एवं तामस् प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध एवं सात्विक वृत्ति का उदय होता है तब योगी को ज्ञान के विराट स्वरूप का साक्षात्कार होता है, क्योंकि ज्ञान-सीमा को सीमित करने वाले तथा रजस् एवं तमस् से उत्पन्न अर्थ

1- समाधेः क्षीण विपर्यस्य विवेकख्यातिमतस्य जन्मासम्भवाद् देहेन्द्रियाभिमानवशादेव जातित्वद्भावान्न पुनरावृत्तिः।
भा. पृ. 446.

एवं नांचल्य दोषों से हीन होने पर ज्ञान शक्ति असीमित हो जाती है । फलस्वरूप ज्ञान भी अपरिमित हो जाता है । अनन्तज्ञानयुक्त योगी के लिए शेष पदार्थ केवल नाममात्र के लिए अथवा अति स्वल्पमात्रा में ही रह जाता है । योगवार्तिककार ने इस स्थल पर बौद्धों का उपहास किया है— यह दर्शाने का प्रयास किया गया है[1]। परन्तु उनका मत युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि बौद्ध दर्शन में भी ज्ञान के आनन्त्य को मान्य किया गया है ।

इस धर्ममेघ समाधि से त्रिविध गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति हो जाती है । शास्त्रादि कर्मफल के योग से वैराग्य होने पर भोग समाप्त हो जाते हैं तथा पुरुष तत्त्व के अवधारण से अपवर्ग निष्पन्न हो जाता है । कृतकृत्य अर्थात् गुणों के चरिताधिकार हो जाने पर भोगापवर्ग स्वरूप परिणामक्रम का नाश हो जाता है[2]।

योग साधना की दृष्टि से धर्ममेघ समाधि का विशेष महत्त्व है । यह सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि के मध्य कड़ी के समान है । धर्म-समाधि के शीघ्र ही पश्चात् परवैराग्य एवं तत्फलस्वरूप असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ होता है । क्लेशकर्मादि की निवृत्ति, ज्ञान का आनन्त्यदर्शन एवं गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति ये तीन धर्ममेघ समाधि के मुख्य फल हैं ।

1- एतादृशं संक्षिप्तं लोकेऽतीवाश्चर्यमन्धमणिविद्धादि विन्दति बौद्धोपहासमुखेन दर्शयति । यो. भा. पृ. 448.

2- ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् । यो. सू. 4-32.

* * *

कैवल्य

पतन्जलि ने अपने ग्रन्थ के चारों पादों में कैवल्य का विवेचन किया है । पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि चारों सूत्रों में एक ही विषय की पुनरुक्ति मात्र है । कैवल्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार पतंजलि कहते हैं कि भोगापवर्गादि रूपी पुरुषार्थ से रहित सत्त्वादि तीनों गुणों का अव्यक्त प्रधान में विलीन हो जाना अथवा पुरुष का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही कैवल्य है[1]।

योगदर्शन की मान्यता के अनुसार सत्व, रजस एवं तमस ये तीनों गुण पुरुष के भोग एवं मोक्ष रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही प्रवृत्त होते हैं । ये त्रिगुण बुद्धि के माध्यम से सर्वप्रथम पुरुष के समक्ष विषयोपभोग उपस्थित करते हैं । पुरुष के योग सम्पादनार्थ ही ये त्रिगुण शरीर, इन्द्रिय एवं बुद्धि आदि रूपों में परिणत होते हैं । भोग के सम्पादन के पश्चात् त्रिगुणों का कार्य पुरुष को मोक्ष संपादित करना है । बुद्धि पुरुष के समक्ष औपाधिकरूपेण भोग प्रस्तुत करता है । बुद्धि से अपने को अभिन्न मान कर पुरुष बुद्धि के सुख-दुखादि धर्मों को स्वयं अपना ही समझने लगता है । पुरुष के कार्यों के स्वयं अपना मान कर अपने को ही कर्ता भोक्ता इस रूप में मानने लगता है । बुद्धि के इस प्रतिबिम्ब के ही कारण उपहित पुरुष स्वरूपप्रतिष्ठ अर्थात् शुद्ध नहीं रह पाता है । इस अवस्था में पुरुष और बुद्धिवृत्तियों में सारूप्य रहता है[2]। पुरुष

1- पुरुषार्थशून्यानाम् गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति । यो. सू. 4-34.

2- वृत्तिसारूप्यमितरत्र । यो. सू. 1-4.

की बुद्धिप्रतिसंवेदनता का कारण पुरुष और बुद्धि का अनादि सम्बन्ध ही है[1]। यही अनादि सम्बन्ध पुरुष का बन्ध है । पुरुष के इस औपाधिक स्वरूप की सार्वकालिक एवं शाश्वतिक निवृत्ति ही कैवल्य है ।

वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु के अनुसार कैवल्य दो प्रकार के हैं गुणों की दृष्टि एवं पुरुष की दृष्टि से परन्तु वस्तुतः कैवल्य एक ही है और यह प्रकृति का है, पुरुष का कैवल्य तो औपचारिक है । कैवल्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि चरिताधिकार गुणों का अपने-अपने कारणों में प्रतिलोम परिणाम के द्वारा प्रतिप्रसव हो जाना ही कैवल्य है[2]। अपने ही रूप में पुरुष का सदैव प्रतिष्ठित रहना अर्थात् बुद्धि से सत्त्व से अभिसम्बन्ध होने की सम्भावना की भी निवृत्ति हो जाना, पुरुष सदा एकाकी केवल निरुपाधि रूप से रहना ही पुरुष की दृष्टि से कैवल्य है ।

पुरुष के प्रयोजन से रहित चरिताधिकार सत्त्वादिगुणों का अव्यक्त प्रकृति में अप्रतिप्रसव हो जाना अर्थात् लीन हो जाना गुणों की दृष्टि से कैवल्य का वर्णन है । चूँकि गुणों का किसी पुरुष के भोगापवर्ग के सिद्ध हो चुकने के पश्चात् अव्यक्त में विलीन हो जाने को ही कैवल्य कहते हैं इसलिए सांख्य शास्त्र की यह उक्ति भी चरितार्थ हो जाती है[3]।

1- तस्माच्चित्तवृत्तिबोधे पुरुषस्यानादिः सम्बन्धो हेतुः यो. भा. सू. 1-4

2- कृतकृत्यानां गुणानां गुणकार्याणां प्रतिप्रसवः स्वकारणे शाश्वतः प्रलयः कैवल्यम् । कार्यकारणात्मनां गुणानाम् महदादिप्रकृतिविकृतीनां त्रिगुणोपादानाम् स्वरूपप्रतिष्ठापि चितिशक्ति बुद्धिसम्बन्धात् सत्त्व बुद्धिप्रतिष्ठेव प्रतिभासते बुद्धिप्रतिप्रसवात् यदाऽद्वैताकेवला चेति वाच्या भवति न पुनर्बु-द्‌ध्यानादेवोपाधिर्वाच्या स्यात्तदा कैवल्यं पुरुषस्येति। भा. पृ. 254-255

3- तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ।। सां. का. 62

सांख्ययोग के अनुसार पुरुष का न तो वस्तुतः बन्ध होता है और न ही मोक्ष । बन्ध और मोक्ष दोनों ही प्रकृति के धर्म हैं केवल उपचार मात्र से पुरुष का मोक्ष अथवा बन्ध ऐसा कहा जाता है । जैसे विजय और पराजय वस्तुतः सेना की होती है परन्तु औपचारिक रूप से राजा की विजय अथवा पराजय ऐसी कही जाती है । इसी प्रकार बुद्धि के साथ अनादि सम्बन्ध के कारण ही पुरुष का बन्ध अथवा मोक्ष ऐसा कहा जाता है ।

कैवल्य के द्वारा पुरुष की कोई नवीन स्थिति नहीं होती है, न ही उसकी पूर्वस्थिति में किंचित् ही अन्तर आता है । वह अपने ही रूप का रहता है । केवल उसमें उपचरित होने वाली उपाधि निराकृत हो जाती है । इस उपाधि का अपसारण ही कैवल्य है ।

भोजवृत्ति में भोज ने कैवल्य का वर्णन करते हुए मोक्षकाल में आत्मा के स्वरूप के विषय में वेदान्त, न्याय, मीमांसा, शैव एवं बौद्धादि मतों का खण्डन किया है । आरण्य एवं अन्य किसी भी टीकाकार ने परमतखण्डनपुरस्सर योगमान्य कैवल्य के स्वरूप का स्थापन करने का प्रयास नहीं किया है ।

षष्ठ अध्याय

पन्चविध सिद्धियाँ, एवं

जात्यन्तर परिणाम

षष्ठ अध्याय

पञ्चविध सिद्धियाँ एवं आत्यन्तर परिणाम

भास्वती के अनुसार शरीर, चित्त एवं इन्द्रियों का अभीष्ट उत्कर्ष ही सिद्धि है[1]। ये पाँच उपायों द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं। ये पाँच उपाय जन्म, औषधि, मंत्र, तप एवं समाधि हैं[2]। कैवल्य के स्वरूप का आकलन करने में सहायक होने के कारण ही इन सिद्धियों का समावेश कैवल्यवाद के अन्तर्गत किया गया है।

इन सिद्धियों में सर्वप्रथम अर्थात् जन्मजात सिद्धियों का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि पूर्वजन्म के कर्मविशेष के कारण दूसरे जन्मों में ये सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इनके लिए कोई प्रयत्न अथवा उपाय नहीं करना पड़ता है[3]।

जन्म के अतिरिक्त कुछ सिद्धियाँ ऐसी होती हैं जो औषधियों के सेवन के द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं। भाष्यकार ने औषधिजा सिद्धियों के संदर्भ में असुर भवन का उदाहरण दिया है। इस असुर भवन की स्थिति के विषय में हमें कोई ज्ञान नहीं प्राप्त होता है। असुर भवन के विषय में प्रसिद्ध है कि वहाँ पर जाकर और उसकी रासायनिक औषधियों का

1- कायाचित्तेन्द्रियाणामभीष्ट उत्कर्षः सिद्धिः। भा. पृ. 392.

2- जन्मऔषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः। यो. सू. 4-1.

3- तत्र प्रथमं सिद्धचित्तेषु कैवल्यभागीयं चित्तं निर्धारयितुकामः पञ्चतयीं सिद्धिमाह। त० वै० पृ. 392.

सेवन करके मनुष्य जरा और मरण के ऊपर सिद्धि प्राप्त कर लेता है। असुर भवनों में औषधिजन्य सिद्धियों का वर्णन स्मृतिपुराणादि में अनेकशः मिलता है।

मन्त्रों के द्वारा आकाशगमन एवं अणिमादि सिद्धियां प्राप्त की जा सकती हैं[1]। मंत्रों का उचित स्थितियों में एवं सम्यक्रूपेण जप एवं उच्चारण करने से अलौकिक सिद्धियां उपलब्ध हो जाती हैं। मंत्रजप में अतीव शक्ति होती है। मंत्र का आधार शब्द है अर्थात् मंत्र शब्द-स्वरूपात्मक है एवं शब्द निस्सीमशक्तियुक्त है। आई. के. टेम्नी के अनुसार "आधुनिक विज्ञान को यह स्वीकार्य है कि चरम सत्य की प्राथमिक अभि-व्यक्ति या सृष्टि एक सूक्ष्म स्पन्दन के द्वारा होती है, जिसे ध्वनि या शब्द कहते हैं। इस शब्द के द्वारा संसार की उत्पत्ति ही नहीं वरन् उसका निर्वाह भी होता है। अतः यह स्पन्दन के अनेक रूपों में विभाजित हो जाता है। ये स्पन्दन ही दृश्यात्मक जगत को संवृत करके व्याप्त रहते हैं।" सृष्टि के कारणस्वरूप इस महान आधारस्वरूप अविभाज्य स्पन्दन को शब्दब्रह्म कहते हैं।

आधुनिक विज्ञान भी मंत्रयोग के रहस्य से अनभिज्ञ नहीं है। भारत में प्राचीनकाल से प्रचलित तन्त्रों में मंत्रविज्ञान के माहात्म्य एवं मंत्रों में निहित तत्तदशक्तियों का विस्तृत विवरण उपलब्ध है। विश्वास चिकित्सा पर आधारित मंत्रयोग के द्वारा शारीरिक व्याधियों को दूर किया जा जा सकता है। ईसाई विचारकों का कहना है कि विश्वास चिकित्सा

1- मंत्राकाशगमनाणिमादिलाभः। यो. भा. सू. 4-1.

ईसाई मत तथा पादरियों के प्रभाव का परिणाम है परन्तु भारत में भी इसी प्रकार पहले मंत्रों द्वारा चिकित्सा होती थी, इसके अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। वस्तुतः मन्त्रविज्ञान विषयक अज्ञान के कारण ही आजकल लोग मन्त्रों की शक्ति के विषय में शंकायें करते हैं। मंत्रजप के द्वारा इच्छा-शक्ति अतीव प्रबल हो जाती है एवं फलस्वरूप वशीकरण सदृश सिद्धियाँ उत्पन्न हो जाती हैं[1]।

तपस्या के द्वारा संकल्प की सिद्धि होती है जिससे योगी इच्छानुसार रूप धारण करके यत्र-तत्र स्वेच्छा से पहुँच सकता है[2]। तपोनुष्ठान से अशुद्धिनाश होता है एवं फलस्वरूप शरीर एवं इन्द्रियों पर वशप्राप्ति होती है[3]।

सिद्धियाँ जो समाधि के द्वारा प्राप्त की जाती हैं, इन्हें समाधिजा सिद्धियाँ कहते हैं। ये समाधिजा सिद्धियाँ अणिमा, लघिमा, महिमा इत्यादि आठ हैं। इनका विस्तृत विवरण विभूतिपाद में किया गया है।

भोज के अनुसार भी समाधि के अतिरिक्त अन्य चारों सिद्धियाँ भी पूर्वजन्म में कैवल्यनाथ हेतु स्वल्पाधिक समाधि का अभ्यास करने वालों को ही जन्मान्तर में उपलब्ध होती है। जन्म औषधि तो निमित्त मात्र होते हैं[4]। वस्तुतः समाधिसिद्धि के द्वारा ही चित्त कैवल्यलाभ के लिए उपयुक्त होता है। प्रायः सभी व्याख्याकारों ने एकमत से समाधिजन्य

1- द्रष्टव्य--पातंजल योगदर्शन (हरि. आ.) पृ. 292

2- तपसा संकल्पसिद्धिः --कामरूपी यत्र तत्र कामग इत्येवमादि। यो. भा. सू. 4-

3- कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। यो. सू. 2-43.

4- भोजवृत्ति-- 4/1.

सिद्धियों की सर्वश्रेष्ठता को स्वीकार किया है । आरण्य के अनुसार ये समाधिजा सिद्धियाँ सभी सिद्धियों का अतिक्रमण करने वाली, निस्सीम, एवं अवन्ध्यवीर्या हैं[1]।

अन्य प्रकार की शरीर और इन्द्रियों के रूप में परिणत हुए शरीरों एवं इन्द्रियों का जात्यन्तर परिणाम प्रकृति के आपूरण से होता है[2]। उपादानभूत अवयवों का अनुप्रवेश ही आपूरण कहलाता है । शरीर की प्रकृति या उपादान कारण पृथिव्यादि पंचभूत एवं इन्द्रियों की प्रकृति अस्मिता तत्व है ।

पाँचों भूत अपने विकारभूत नये शरीर को एवं अस्मिता अपनी विकारभूत नयी इन्द्रियों को अपने अवयवों के अनुप्रवेश से अनुगृहीत करते हैं। आरण्य के अनुसार विकारों को अभिव्यक्त करना ही उन्हें अनुगृहीत करना है[3]।

जात्यन्तर परिणाम होने के लिए निमित्त अपेक्षित होता है । ये निमित्त प्रकृतियों के प्रेरक नहीं होते हैं वरन् वे कृषकों के समान आवरणरूप अधर्मादि का भेदनमात्र कर देते हैं[4]। निमित्तरूप ये धर्मादिसंस्कार इन्हीं प्रकृतियों के कार्य हैं[5] अतः कार्य के द्वारा कारणरूप प्रकृति का प्रेरित किया

1- संयमजा सिद्धयो व्याख्यातास्ताश्च सिद्ध्यवनियता अवन्ध्यवीर्याः। भा. पृ0 293.

2- जात्यन्तर परिणामःप्रकृत्यापूरात् । यो. सू. 4-2.

3- स्वं स्वं विकारं स्था धिष्ठानं कार्यं कारणान्यापूरेणानुगृह्णान्ति अनुग्रह्या भिव्यंजन्ति । भा. पृ. 394.

4- निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततःक्षेत्रिकवत् यो0सू. 4-3.

5- धर्मादिनिमित्तं न प्रकृतिं कार्यान्तरजननाय प्रयोजति विकारस्थत्वात् भा. पृ.

जाना संभव नहीं है। सूत्रकार ने इस प्रक्रिया को समझाने के लिए क्षैत्रिक का उदाहरण दिया है।

जिस प्रकार से किसान जल को सम्पूर्ण खेत में पहुँचाने के लिए केवल मेड़ काट देता है एवं फिर स्वतः प्रसरणशील जल संपूर्ण खेत में परिव्याप्त हो जाता है उसी प्रकार से किसी प्रकृति विशेष की अभिव्यक्ति के प्रतिबंधक हेतु का निराकरण होने पर वह प्रकृति स्वतः शरीरेन्द्रियों में आपूरित हो जाती है। इस प्रकार धर्मादि निमित्तों का कार्य प्रकृति को प्रेरित करना नहीं है, वरन् प्रकृतियों की स्वाभाविक सक्रियात्मकता में प्रतिबंधकस्वरूप जीवों के अधर्मादि संस्कारों का भेद अथवा अपनयन करना है।

आचार्य ने इसी को प्रस्तरखण्ड का सुन्दर दृष्टान्त देकर समझाया है[1]। जिस प्रकार बिना किसी बाह्य योग के केवल अतिरिक्त अंशमात्र काट देने से इस प्रस्तरखण्ड में से केवल एक से मूर्ति बन जाती है उसी प्रकार अधर्मादि संस्कारों के अंश के निराकरण के द्वारा करणप्रकृति भी उसी प्रकार प्रकाशित होती है। आरण्य के अनुसार प्रकृति की क्रिया का ही नाम धर्म है। उदाहरणार्थ दिव्यचक्षु रूपी प्रकृति का धर्म दूरदर्शन अथवा दिव्यदृष्टि है। प्रकृति के विपरीत धर्म का नाश होने पर ही प्रकृति का धर्म दूरदर्शन अथवा दिव्यदृष्टि है। प्रकृति आपूरण के द्वारा जात्यन्तर परिणाम उत्पन्न होता है[2]। इसी को और अधिक स्पष्ट करने

1- द्रष्टव्य— पा. योगदर्शन (हरि आ.) पृ. 300.

2- यथा व्यवहितदर्शनं दिव्यचक्षुःप्रकृतिधर्मः, तत्प्रकृतिर्न भानुषचक्षुः कार्या-दुत्पादनीयम्, भानुषचक्षुः कार्यनिरोधिता स्वयमेव चक्षुः शक्तिमनुप्रविश्य दिव्यदृष्टिमत्चक्षुरा विर्भावयति। भा. पृ. 395

के उद्देश्य से आचार्य उदाहरण देकर समझाते हैं कि जैसे दिव्यदर्शन दिव्यचक्षु की प्रकृति है । यह प्रकृति मनुष्यचक्षु के कार्यों के द्वारा उपलब्ध नहीं की जा सकती है परन्तु यदि मानुष्यचक्षु के कार्य का निरोध कर दिया जाए तो वह दिव्यचक्षु स्वयं आविर्भूत होकर प्रकाशित होती है । अर्थात् दिव्यचक्षु आदि कोई नवीन वस्तु नहीं उत्पन्न होती है प्रत्युत वह प्रकृति का ही धर्म है एवं उसके विरुद्ध धर्मों का नाश हो जाने से स्वयं प्रकाशित होने लगती है । एक प्रकृति के धर्म का निरोध करने पर अन्य प्रकृति उसमें आपूरित होकर अभिव्यक्त होती है ।

आरण्य के अनुसार मानुष प्रकृति का धर्म दैव प्रकृति का विरोधी है । अतः विरुद्ध स्वभाव वाले मानुष धर्म के विरोध रूप निमित्त से दिव्यप्रकृति स्वयं अभिव्यक्त होती है । निमित्त प्रकृति को प्रेरित नहीं करता है प्रत्युत विधर्म को अभिभूत करता है जिसके फलस्वरूप प्रकृति स्वयं अनुप्रवेश के द्वारा अभिव्यक्त होती है[1]।

जिस प्रकार विरुद्ध धर्मों के निवृत्त होने पर शुद्ध परिणाम अभिव्यक्त होता है उसी प्रकार अधर्म द्वारा धर्म के निवृत्त होने पर अशुद्ध परिणाम भी होता है । कुमार नन्दीश्वर एवं नहुषराज इन द्विविध परिणामों के उदाहरण हैं । नन्दीश्वर के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होंने धर्म के द्वारा अधर्म का निरोध किया एवं फलस्वरूप प्रकृतियों के अपयानुप्रवेश के द्वारा इसी जीवन में दिव्य देहेन्द्रिय को प्राप्त किया । इसी प्रकार से पौराणिक आख्यायिका है कि नहुष के अधर्म से पूर्व सभी दिव्यधर्म निरुद्ध हो गये एवं वह अजगर के रूप में परिणत हो गया ।

1- द्रष्टव्य- पात० योगदर्शन (हरि०आ०) पृ. 301.

सिद्धियाँ: स्वरूप एवं प्रकार

योगसूत्र का तृतीय पाद सिद्धियों के वर्णन से भरा पड़ा है। इसी कारण से इस पाद को विभूतिपाद के नाम से अभिहित किया गया है। वैसे इस विभूतिपाद के अतिरिक्त भी अन्य तीन पादों में यत्र-तत्र विभूतियों का उल्लेख प्राप्य है। विभूति का अर्थ शक्ति, सिद्धि, सामर्थ्य एवं ऐश्वर्य है।

ये सिद्धियाँ योग का चरम लक्ष्य नहीं हैं। योगदर्शन में इन सिद्धियों को समाधिरूप मुख्य लक्ष्य से निम्नस्तर का समझा जाता है। जिस प्रकार उच्च स्तर का विशेष महत्त्व है उसी प्रकार निम्नस्तर का भी कम महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। इन सिद्धियों के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए डा. राधाकृष्णन् ने बनियन के रूपकालंकार को उद्धृत किया है जिसके अनुसार दिव्यनगर के तीर्थयात्रियों को स्वयं स्वर्ग के मुख्य द्वार पर ही एक छोटी-सी खिड़की मिलती है जिसमें से होकर एक मार्ग नीचे नरक तक चला गया है। जो पुरुष इन चमत्कारपूर्ण शक्तियों का शिकार हो जाता है उसका अधःपतन शीघ्र होता है[1]। इसी प्रकार की चेतावनी विवेकानन्द ने भी राजयोग में दी है।

सिद्धियों का वर्गीकरण निम्नलिखित तीन आधारों पर किया जा सकता है —

1. योग-साधना के भेद के आधार पर,
2. सिद्धियों के विषयों के आधार पर, एवं
3. सिद्धियों के स्वरूप के आधार पर।

1- द्रष्टव्य—इंडियन फिलासफी- राधाकृष्णन, वाल्यूम 2, पृ. 362

यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार ये योग के बहिरंग साधन हैं । इनकी सिद्धि के फलस्वरूप उत्पन्न सिद्धियाँ बहिरंग साध्य कही जाती हैं । इन सिद्धियों का विशद वर्णन योगसूत्र के साधनपाद में किया गया है । धारणा, ध्यान एवं समाधि ये तीन योग के अन्तरंग हैं । इन अन्तरंग साधनों पर किये गये संयम के फलस्वरूप उपलब्ध सिद्धियाँ अन्तरंग साधनजन्य सिद्धियाँ कहलाती हैं । इनका एवं अन्य सिद्धियों का वर्णन विभूतिपाद में है । उपर्युक्त ये दो भेद योग साधना के आधार पर किये गये हैं । सभी जागतिक अथवा भौतिक पदार्थ ग्राह्य, ग्रहण एवं ग्रहीता इन तीन रूपों के हैं । अतः सिद्धियाँ भी त्रिविध हैं । इसी प्रकार आकाशगमन, छिद्ररहित पाषाण में प्रवेश सदृश सिद्धियाँ क्रियाप्रधान एवं परचित्त ज्ञान, भूत, भविष्य, वर्तमानादि का ज्ञान प्रदान करने वाली सिद्धियों को ज्ञानप्रधान सिद्धियाँ कहते हैं ।

श्रीमद्भागवत में इन सिद्धियों का निम्न आठ प्रकारों से स्पष्टीकरण किया गया है —

"अणिमा महिमा चैव लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः ।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता ।
गुणेष्वसंगो वशिता यत्कामस्तदवस्यति ।"

अर्थात् अणिमा, लघिमा, गरिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व एवं वशित्व— ये आठ ऐश्वर्य हैं ।

1– द्रष्टव्य— श्रीमद्भागवत — 11/15/4–5.

योग के बहिरंग साधन यथा यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार के दृढ़ होने पर विविध साधक को प्राप्त होती हैं। ये सिद्धियाँ योगाभ्यास की परिपक्वता की दिग्दर्शिका हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह ये पाँच यम हैं। इनमें सर्वप्रथम अहिंसा-व्रत के दृढ़ अभ्यास के द्वारा साधक अन्य प्राणियों की हिंसक प्रवृत्ति का सहज ही प्रशमन करने में सफल हो जाता है[1]।

इसी प्रकार सत्य नामक यम के पूर्ण प्रतिष्ठित होने पर साधक की वाक् सम्पूर्ण क्रियाओं एवं सकल फलों की मूलाधार अथवा कारण बन जाती है[2]। आरण्य के अनुसार कर्माचरण के पश्चात् प्राप्त होने वाले स्वर्गादि फल योगी की वाणी के द्वारा ही श्रोता के मन में तत्तत्स्य संस्कार उत्पन्न करके उसे स्वर्गादि सिद्धि करा देता है[3]। इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि योगी की इच्छा शक्ति नल में जलप्रवाह के सदृश सरल सत्य वाक्य द्वारा श्रोता के मन में संहित होती है एवं उसके मन पर अधिकार कर उससे वैसा ही कार्य करवा लेती है।

सत्यप्रतिष्ठ योगी की वाणी अमोघ एवं त्रिकालबन्धित होती है। सत्यप्रतिष्ठ योगी अपनी शक्ति के अनुसार वाणी का उच्चारण करते हैं

1- अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। यो. सू. 2-35.

2- सत्य प्रतिष्ठायां क्रिया फलाश्रयत्वम्। यो. सू. 236.

3- कर्माचरणेन सद स्वर्गगमनादि फलं लभ्यते, योगिनो वाचैव श्रोतुर्मनसि समुदित संस्कारात् तत्सिद्धिः। भा. पृ. 260.

शक्ति से परे विषयों में वे मौन धारण करते हैं ।

अस्तेय के सिद्ध होने पर साधक को बिना किसी प्रयत्न के बहुमूल्य वस्तुओं एवं उपहारों की प्राप्ति होती है[1]। अस्तेय पालन से साधक की मुखाकृति परम निस्पृहभाव की अभिव्यक्ति के कारण अतीव श्रद्धास्पद हो जाती है एवं निस्पृहता की साक्षात् मूर्तितुल्य होने के कारण अन्यजन साधक को बहुमूल्य रत्नोपहार प्रदान करते हैं ।

ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से वीर्यलाभ प्राप्त होता है[2]। इससे साधक इच्छा का विघात न करने वाले अणिमादि गुणों को प्राप्त कर लेता है, साथ ही वह अपने शिष्यों को ज्ञानदान कराने की शक्ति भी प्राप्त कर लेता है । अब्रह्मचारी साधक शिष्य को ज्ञानोपदेश करने में सर्वथा असमर्थ होता है । आचार्य के अनुसार ब्रह्मचारी को ऊहादि सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं[3]। अपरिग्रह की प्रतिष्ठा से साधक को जन्मबोधरूपी सिद्धि प्राप्त होती है[4]। वह भूत, वर्तमान एवं भविष्य रूपी जन्मों के विषय में पूर्ण ज्ञानार्जन कर लेता है । ये उपर्युक्त सिद्धियाँ अहिंसादि पाँच यमों के पूर्ण परिपक्व होने से साधक को प्राप्त होते हैं ।

नियमों के सम्यक् अनुष्ठान के द्वारा भी कुछ सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान ये पाँच नियम हैं

1- अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् । यो. सू. 2-37.

2- ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः यो. सू. 2-38.

3- तथा ऊहाध्ययनादि सिद्धिनिमित्त । भा. पृ. 26.

4- अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः । यो. सू. 2-39.

शौच नामक प्रथम नियम की प्रतिष्ठता से स्वतः के एवं अन्य परशरीरों के प्रति घृणा की भावना जागृत होती है[1]। सात्विक वृत्ति के चित्त में प्रकृष्टतेन उदय से चित्त एकाग्र होता है एवं फलस्वरूप क्रमशः इन्द्रियजय एवं आत्मदर्शन की योग्यता उत्पन्न होती है[2]।

चित्त की सन्तोष नामक नियम की प्रतिष्ठा से अत्युत्तम सुख का लाभ होता है[3]। तप के आचरण से अशुद्धि का नाश होकर कार्यो-न्द्रियसिद्धि प्राप्त होती है[4]। अज्ञानरूप आवरण यत्न क्षीण होने पर अणिमादि ऐश्वर्य एवं दूरस्थ शब्दों का श्रवण रूप इन्द्रियसिद्धि होती है।

स्वाध्याय नामक नियम के सम्यक् परिपक्व होने पर देव, ऋषि, सिद्धगण एवं महापुरुष साधक से प्रसन्न होकर स्वयं उपस्थित होकर अपने दर्शन से साधक को अनुगृहीत करते हैं[5]। ये साधक के कार्यों को सम्पन्न कराने में सहायता करते हैं।[6]

ईश्वरप्रणिधान की सिद्धि से समाधिलाभ होता है[7]। ईश्वर-प्रणिधान को योगमार्ग के कण्टकों का अपसारण होकर समाधि की प्राप्ति होती है।

1- शौचात् स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः। यो. सू. 2-40.

2- सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च। यो. सू. 2-41.

3- सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः। यो. सू. 2-42.

4- कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। 2-43.

5- स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। 2-44.

6- कार्ये चास्य वर्तन्ते। व्यास भा. सू. 2-44.

आसन के सम्यक् अभ्यास से साधक कष्टसहिष्णु बन जाता है। शीतोष्ण, क्षुधा, पिपासा आदि द्वन्द्व उसे प्रभावित एवं आहत नहीं कर पाते हैं[1]।

प्राणायाम नामक बहिरंग योगांग की प्रतिष्ठा से प्रकाश के आवरणरूप अविद्यादि क्लेश एवं तज्जन्य पाप नष्ट हो जाते हैं[2]। साथ ही प्राणायाम के द्वारा मन सब प्रकार की धारणा के योग्य भी हो जाता है।

प्रत्याहार की सिद्धि से इन्द्रियों की परमवश्यकता बढ़ती है[3]। प्रत्याहार सिद्धि का मुख्य फल इन्द्रियजय है। प्रत्याहार के द्वारा साधक की इन्द्रियाँ पूर्णतः उसके स्वाधीन हो जाती हैं।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार इन बहिरंग योगांगों के अनुष्ठान से उत्पन्न सिद्धियों का उपर्युक्त वर्णन है।

धारणा, ध्यान एवं समाधि ये तीन योगांग के अन्तरंग हैं। इन तीनों के अनुष्ठान से भी अनेक सिद्धियों का लाभ होता है। धारणा, ध्यान और समाधि का ही सामूहिक नाम संयम है। धर्म, लक्षण एवं अवस्था इन तीनों परिणामों पर संयम करने से योगी को भूत और भविष्य का अनायास ज्ञान हो जाता है।

शब्द अर्थ और उसके ज्ञान इन तीनों में संकर हो जाता है अर्थात्

1- ततो द्वन्द्वानभिघातः यो. सू. 2-48.

2- ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। यो. सू. 2-52.

3- ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् यो. सू. 2-55.

4-

ये तीनों मिले-जुले एकाकार से प्रतीत होते हैं[1]। वस्तुतः दूध शब्द, दूध अर्थ और दूध के ज्ञान वैभिन्न हैं । आचार्य शब्द, अर्थ एवं ज्ञान के भेद को निरूपित करते हुए कहते हैं कि शब्द वागिन्द्रिय में स्थित है, गवादि अर्थ गोष्ठ (गोशाला) में स्थित है -- और उसका ज्ञान मन में स्थित है[2]। इस प्रकार से तीनों सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं ।

संस्कारों के साक्षात्कार करने से पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है[3]। धर्माधर्मरूप ये दो प्रकार के संस्कार भेद हैं । इन द्विविध संस्कारों के साक्षात्कार करने से उस संस्कार से सम्बन्धित देश, काल एवं कारणों का भी ज्ञान होता है । अतः योगी को सभी पूर्वजन्मों का ज्ञान हो जाता है । इस विषय में आख्यान सुना जाता है कि जैगीषव्य को सहस्र जन्मों का ज्ञान प्राप्त हो था ।

चित्त में संयम करने से दूसरों के चित्त का ज्ञान होता है[4]। यहाँ पर प्रत्यय शब्द के अर्थ पर कुछ विवाद है । कुछ टीकाकारों ने प्रत्यय का अर्थ परचित्त और कुछ ने स्वचित्त किया है । विज्ञानभिक्षु के अनुसार प्रत्यय का अर्थ स्वचित्त है और वाचस्पति मिश्र और भोजराज के मत में प्रत्यय का अर्थ परचित्त है । आचार्य हरिहरानन्द आरण्य इन दोनों के बीच मध्यम मार्ग निकालते हुए कहते हैं कि प्रत्यय का अर्थ रागमय या द्वेषमय अपने या पराये किसी के भी चित्त से है[5]। वास्तव में यही मत अधिक समीचीन

1- यो वाचकः शब्दः स एवार्थस्तदेवं च ज्ञानमिति संकीर्णता । भा. पृ. 320.

2- एवं शब्दार्थप्रत्यया नेतरेतरसंकीर्णा, शब्दो वागिन्द्रिये वर्तते, गवाद्यर्थो गोष्ठादौ वर्तते प्रत्ययश्च मनसीत्यसंकीर्णा ... । भा. पृ. 331.

3- योगसूत्र--संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् । यो. सू. 3-18.

4- प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् । यो. सू. 3-19

5- प्रत्यये रक्तद्विष्टादि चित्तमात्रे संयमात् । भा. पृ. 335

प्रतीत होता है क्योंकि परचित ज्ञान स्वचित्त पर संयम किये बिना नहीं हो सकता है।

शरीर के रूप में संयम करने से योगी को अन्तर्धान होने की शक्ति आ जाती है[1]।

कर्म सोपक्रम एवं निरुपक्रम कर्म होते हैं[2]। उनमें (किये गये) संयम से मृत्यु का ज्ञान होता है अरिष्टों से भी मृत्यु का ज्ञान होता है। अरिष्ट तीन प्रकार के होते हैं — आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक। आध्यात्मिक अरिष्ठ वह होता है कि जब कान बन्द करने पर शरीर के अन्तर्गत स्थित ध्वनि का आभास न हो अथवा आँखें बन्द करने पर आन्तरिक ज्योति दिखायी न पड़े। यमपुरुष अथवा पितरों का अचानक दर्शन आधिभौतिक अरिष्ट है। इसी प्रकार स्वर्ग अथवा सिद्धों का दर्शन आदि आधिदैविक अरिष्ट है।

मैत्री, करुणा एवं मुदिता ये तीन भावनाएं हैं। इन भावनाओं पर संयम करने से योगी को मैत्री बल, करुणा बल एवं मुदिता बल की प्राप्ति होती है[3]। मैत्र्यादि भावना करने से योगी को समाधि होती है एवं यही समाधि संयम है। इस संयम के द्वारा योगी को मैत्रीबल आदि की प्राप्ति होती है। मैत्रीबल से योगी के चित्त से ईर्ष्यादि पूर्णतया विलुप्त हो जाते हैं एवं उसकी इच्छामात्र से शत्रु भी मित्रवत् व्यवहार करने लगते हैं[4]।

1- कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशाऽसम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्। 3-2[illegible]

2- सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा। 3-22

3- मैत्र्यादिषु बलानि। 3-23.

4- मैत्र्यादि भावनातस्तद्भावेषु स्वस्वपूज्य मित्र तत्तद्भावनिर्भासं ध्यानं यदा भवेत्तदा तत्र समाधिः, स एव तत्र संयमः। भा. पृ. 338.

किये गये संयम से क्रमशः हाथी, गरूड़ एवं वायु का बल योगी को प्राप्त हो जाता है[1]। मन की विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के प्रकाश के द्वारा योगी को सूक्ष्म, व्यवहित तथा दूरस्थ विषयों का सर्वांगीड़ ज्ञान हो जाता है[2]। सूर्य में संयम करने पर समस्त भुवनों का ज्ञान योगी को प्राप्त हो जाता है[3]।

यहाँ पर संयम का विषय प्रकाशमय सूर्य है किन्तु टीकाकारों ने इस सूर्य के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं । वाचस्पति मिश्र के अनुसार सूर्य का अर्थ सुषुम्ना नाड़ी है[4] तथा आचार्य हरिहरानन्द आरण्य ने कृत भास्वती के अनुसार सूर्यद्वार का अर्थ सुषुम्नाद्वार है[5]। भोजराज और विज्ञानभिक्षु सूर्य का प्रकाश करने वाला सूर्य ही मानते हैं[6]। नारायणतीर्थ ने इन दोनों मतों के मध्यम मार्ग को अपनाते हुए माना है कि सुषुम्ना को सूर्य की किरण विशेष है । इस प्रकार से यही युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि यहाँ पर सूर्य से प्रकाशमान सूर्य ही सूत्रकार को अभीष्ट है । इस प्रकाशमान सूर्य पर संयम करने से योगी को सभी भुवन विदित हो जाते हैं[7]।

चन्द्रमा पर संयम करने से सभी तारक समूह का विशेष ज्ञान हो

1— बलेषु हस्तिबलादीनि । 3-24.

2— प्रवृत्त्या आलोकन्यासात्सूक्ष्म व्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् । 3-25.

3— भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् । 3-26

4— भुवनज्ञानं सूर्यद्वारि सुषुम्नानाड्यां । त० वै० पृ०

5— सूर्यद्वारे सुषुम्णाद्वारे । भा. पृ. 306.

6— सूर्ये प्रकाशमये यः संयमं करोति । रा. भा. पृ.

7— दिवि देदीप्यमानमार्तण्डे सुषुम्ना दितद्वारविमर्मलिपि संयमात् ।
यो. सि. च. पृ. 123.

जाता है[1]। ध्रुवतारे पर संयम करने से तारों की गति का ज्ञान होता है[2]। आचार्य के अनुसार ध्रुव का अर्थ निश्चल तारक है[3]।

नाभिचक्र में संयम करने के शरीर संस्थान का ज्ञान होता है[4]। शरीर में तीन दोष हैं जो कि वात, पित्त एवं कफ, त्वचा, रक्त, मांस, नस, हड्डी, मज्जा और वीर्य सात धातुएं भी शरीर में होती हैं।

कण्ठकूप में (संयम से) पर भूख और प्यास समाप्त हो जाती है[5]। जिह्वा के ठीक नीचे की ओर तन्तु[6] होता है उसके नीचे कण्ठ[7] और उसके भी नीचे कूप होता है। तन्तु वाह्ययंत्र का एक अंश है जिसे अंग्रेजी नियमावली में "वोकल कॉर्ड" कहते हैं। इस प्रकार से कण्ठकूप पर संयम करने पर मनुष्य को क्षुधा और पिपासा जनित पीड़ाएं संत्रस्त नहीं कर पाती हैं अर्थात वह इन पर अधिकार कर लेता है[8]।

कूप के नीचे वक्षस्थल में कूर्माकार नाड़ी (ब्रॉंकियल ट्यूब) होती है

1- चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्। यो. सू. 3-27.

2- ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्। 3-28.

3- ध्रुवे कस्मिंश्चिन्निश्चलतारके। भास्वती पृ. 347.

4- नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्। 3-29.

5- कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः। 3-30.

6- तन्तुः ध्वन्युत्पादकं कण्ठाग्रकं बिलता नितरान्तुल्यं वागिन्द्रियांगम्। भा. पृ. 347.

7- कण्ठः श्वासनाड्या ऊर्ध्वभागः। भास्वती, पृ. 348.

8- तस्मिन् प्रदेशे संयमादशेषविशेषतः साक्षात्कृते सति क्षुत्पिपासा-निवृत्तिरूपा सिद्धिर्भवतीत्यर्थः। यो. वा. पृ. 348.

उसमें संयम करने पर सर्पण गोध समान स्थैर्य लाभ होता है[1]। स्थैर्य को लेकर यहां पर व्याख्याकारों में कुछ मतभेद है कि स्थैर्य कायिक है अथवा चित्त सम्बन्धी। भास्वतीकार[2] तथा वार्तिककार[3] विज्ञानभिक्षु इसे चित्त को स्थैर्य प्रदान करने वाली सिद्धि मानते हैं। परन्तु भोजराज इस स्थैर्य को शरीर और चित्त दोनों से सम्बन्धित स्वीकार करते हैं[4]। यही अर्थ अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

मूर्धा में स्थित ज्योति में किये गये मूर्धज्योति में संयम करने पर सिद्धों का दर्शन होता है[5]। शिर, कपाल के अन्दर एक छेद होता है इस छेद के अन्दर अत्यन्त प्रकाशमान प्रभास्व ज्योति है। इस ज्योति पर संयम करने से द्युलोक एवं पृथ्वीलोक के मध्य अदृश्यरूपेण संचरण करने वाले सिद्धों का दर्शन होता है। भास्वतीकार के अनुसार सिद्ध एक प्रकार की देवयोनि है[6]।

प्रातिभज्ञान तारकज्ञान है[7]। विवेकज्ञान का पूर्व सोपान (फर्स्ट स्टेप) है।

हृदय में संयम करने पर चित्त का ज्ञान अथवा साक्षात्कार होता है[8]

1- कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्। 3-31.

2- कायस्थैर्यजनितं चित्तस्थैर्यम् ज्ञानस्य सिद्धिनामन्तर्गतत्वात्। भा. पृ. 348.

3- कूर्माकारं हृदयपुण्डरीकाख्यं नाडीचक्रं तत्र कृतसंयमो योगी स्थिरपदं स्थिरां चित्तवृत्ति लभत इत्यर्थः। यो. वा. पृ. 348.

4- तस्यां कृतसंयमस्य चेतसः स्थैर्यमुत्पद्यते....यदि वा कायस्य स्थैर्यम् उत्पद्यते न केनचित्स्पन्दयितुं शक्यत इत्यर्थः। रा. मा. वृ. पृ. 194.

5- मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्। 3-32.

6- सिद्धः देवयोनिविशेषः। भा. 348.

7- प्रातिभाद्वा सर्वम्। 3-33.

8- हृदये चित्त संवित्। 3-34.

पुरुष विषयक ज्ञान में संयम करने पर दो प्रकार की सिद्धियां होती हैं । भोग रूपी ज्ञान से भिन्न स्वार्थ (पुरुषवस्तुक प्रत्यय) में संयम करने से पुरुष का साक्षात्कार होता है । गौण सिद्धि के अन्तर्गत प्रातिभ, श्रावण, आदर्शवेदन, आस्वाद तथा वार्ता नामक सिद्धियां आती हैं[1]। मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, प्राण और रसना ये छः ज्ञान के साधन हैं । इसी को यौगिक भाषा नामावलि (योगा टर्मिनोलोजी) में प्रातिभ, श्रावण, वेदन आदि कहा जाता है[2]।

यहां पर यह स्पष्ट है कि पुरुष में संयम करने से पूर्व प्राणियों को इन इन्द्रियों के द्वारा लौकिक विषयों का ही ज्ञान होता है अर्थात् ये इन्द्रियां लौकिक ज्ञान को ग्रहण करने तक ही सीमित रहती हैं परन्तु पुरुष में संयम करने के आनुषंगिक फल के रूप में इन इन्द्रियों की सामर्थ्य असीमित हो जाती है अर्थात् ये अलौकिक विषयों का ज्ञान भी ग्रहण करने लगती हैं । साथ ही ये सिद्धियां पुरुष ज्ञान होने पर स्वयमेव ही अर्थात् बिना संयम प्रयोग में सदा योगी को प्राप्त होती रहती हैं[3]।

प्रातिभादि सिद्धियों के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि ये सिद्धियां समाधिकाल के लिए तो विघ्नरूप ही हैं केवल व्युत्थानकाल में ही ये सिद्धियां हैं[4]। क्योंकि समाहित चित्त के योगी को जो पुरुषदर्शन होता है उस में ये सिद्धियां विघ्न उपस्थित करती हैं । व्युत्थान की अवस्था में ये अवश्य

1- ततः प्रातिभश्रावण वेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते । 3-36.

2- श्रोत्रादीनां पञ्चानां दिव्यशब्दाद्युपलम्भकानां तान्त्रिक्यः संज्ञाः श्रावणादा त0 वै0 पृ0 354.

3- एताः सिद्धयो नित्यं भूमिविनियोगमन्तरेणैवार्थेऽः प्रादुर्भवन्ति । भा. पृ. 35

4- ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः । 3-37.

सिद्धि के रूप में मानी जाती हैं[1]।

समाधि के द्वारा धर्माधर्म रूप बन्धकारण शिथिल हो जाता है। चित्त की गति का ज्ञान भी समाधि के द्वारा होता है। अतः बन्धन के कारण में शिथिलता एवं चित्त की गति का ज्ञान हो जाने पर योगी परशरीर में प्रविष्ट होने में समर्थ हो जाता है[2]। चित्त के प्रवेश के साथ ही योगी की इन्द्रियाँ भी उसका अनुसरण करती हैं। ठीक उसी प्रकार से जैसे कि मधुमक्खियाँ अपनी रानी मधुमक्खी का अनुसरण करती हैं।

उदान [वायु पर संयम करके, उस] को जीतने से योगी जल, कीचड़ और काँटों आदि से अलिप्त रहता है[3]। और प्रयाणकाल में वह अर्चिरादि मार्ग के द्वारा ऊर्ध्वगमन करने में भी समर्थ होता है[4]।

समान [नामक प्राणशक्ति] को जीतने वाला योगी [शरीरगत] तेज को उद्भावित करके प्रकाशित होता है।

भास्वती में स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं-- संयम के द्वारा समान नामक प्राण पर विजय करने से योगी शरीर स्थित तेज को उत्तेजित करके चमकने लगता है[5]।

1- "ते प्रातिभादयः समाधिनिष्पत्त्यासम्प्रज्ञात रूपायाः उपसर्गा अन्तराया अतो व्युत्थानापेक्षयैते सिद्धयः।" यो. वा. पृ. 355.

2- बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः। 3-38.

3- उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च। 3-39.

4- स्वेच्छया अर्चिरादिमार्गेणोत्क्रान्तिर्भवति प्रयाणकाले। भा. पृ. 358.

5- उपध्मानात् उत्तम्भनात्तेजस् तस्य प्रज्वलन्निव लक्ष्यते योगी। भा. पृ. 3

श्रोत्र तथा आकाश के सम्बन्ध पर संयम करने से दिव्य श्रोत्रेन्द्रिय की प्राप्ति होती है[1]। शरीर तथा आकाश के सम्बन्ध पर संयम करने से अथवा रूई के समान लघु पदार्थ पर संयमजन्य समापत्ति करने से योगी आकाशगमन में समर्थ हो जाता है[2]। "कायाकाशयोः सम्बन्ध संयमाल्लघु-तूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ।" इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार आकाश का गुण शब्द है, उसी प्रकार शरीर भी अनाहत नाद से परिव्याप्त है । इन समताओं से शरीर और आकाश के सम्बन्ध पर सरलतापूर्वक संयम किया जा सकता है ।

आकाशगमन की सिद्धि के भी क्रमिक सोपान हैं । पहले योगी जल पर चलने में समर्थ होता है फिर मकड़ी के जाले के बिल्कुल महीन सूत पर भी वह चल लेता है तथा किरणों में भी गमनागमन कर लेता है और तत्पश्चात् बिना किसी आधार के वह योगी आकाश में भी विचरण करने में सफल हो जाता है ।

शरीर के बाहर अकल्पिता नामक एक महाविदेहावृत्ति होती है । इस अकल्पिता वृत्ति के द्वारा प्रकाश अर्थात् ज्ञान का आवरण नष्ट हो जाता है[3]।

भास्वती में स्पष्ट है कि किसी बाह्य वस्तु पर " मैं हूँ" इस प्रकार

1- श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यम् श्रोत्रम् । 3-41.

2- कायाकाशयोः सम्बन्धः संयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् । 3-42.

3- बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा, ततः प्रकाशावरणक्षयः

3-43.

की धारणा करना बहिर्वृत्ति है[1]। यह कल्पिता और अकल्पिता दो प्रकार की होती है। जब शरीर को छोड़ कर मन किसी बाह्य वस्तु पर वृत्तिलाभ करता है तो वह अकल्पिता बहिर्वृत्ति महाविदेहा कही जाती है। इस महाविदेहावृत्ति से बुद्धिसत्त्व पर रजस और तमस के कारण जो ज्ञानावरण पड़ जाता है वह समूल नष्ट हो जाता है। आरण्य के अनुसार सबसे बड़ा ज्ञानावरण शरीर का अभिमान ही है[2]।

पञ्चमहाभूतों की विविध अवस्थाओं पर संयम करने से भूतजय नामक सिद्धि की योगी को प्राप्ति होती है। भूतों के क्रमशः स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व ये पाँच रूपभेद हैं।

किसी आकार से युक्त तथा अपने विशेष शब्दस्पर्शादि गुणों से युक्त भौतिकरूप में पाया जाने वाला भूत का स्थूलरूप कहलाता है[3]। इसी स्थूल रूप में सामान्यजनों को भौतिक द्रव्यों का साक्षात्कार होता है, जैसे घटपटादि।

इन पंचभूतों के सूक्ष्म रूप को तन्मात्र कहते हैं। तन्मात्र का एक अवयव परमाणु है। सांख्ययोग में परमाणु को वैसे तो सावयव माना जाता है परन्तु आचार्य के अनुसार परमाणु स्वयं ही इतना सूक्ष्म होता है कि उससे भी अवयवों का ज्ञान सहज संभव नहीं है[4]। यह परमाणु सामान्य

1- शरीराद्बहिरस्मीति भावना मनसो बहिर्वृत्तिः। भा. पृ. 362.

2- ततः प्रकाशावरणक्षयः शरीराभिमानमनोदयात् क्लेशकर्मविपाका ह्येतत्त्रयः बुद्धिसत्त्वस्यावरणमलं धीयते। भा. पृ. 363.

3- पार्थिवाः शब्दस्पर्शादयाः, आप्याः शब्दस्पर्शादयः इत्याद्याः [illegible] सम्पन्नानि भौतिकद्रव्याणीत्यर्थः आकारकाठिन्यगत्यादिसंयुक्ताः स्थूलशब्देन परिभाषिताः। भा. पृ. 363.

4-

और विशेष से युक्त होता है । वाचस्पति मिश्र के अनुसार मूर्ति आदि सामान्य और शब्दादि विशेष है[1]। परन्तु आचार्य आरण्य की भास्वती के अनुसार सामान्य से तात्पर्य शब्दादि से है एवं विशेष का अर्थ षड्जऋषभ आदि से है[2]।

भूतों का चतुर्थ रूप त्रिगुण है । सत्व, रजस और तमस ये तीन गुण ही "अन्वय" से अभिप्रेत हैं । भूतों का अंतिम स्वभेद अर्थवत्ता है । गुणों के सर्वव्यापी होने के कारण संपूर्ण जगत्प्रपंच भोग और अपवर्ग रूप "अर्थवत्व" से युक्त है ।

पांच रूपों वाले इन भूतों में संयम करने से योगी को भूतजय होती है । इन पंचमहाभूतों और पंचतन्मात्राओं पर विजय प्राप्त कर लेने से ये सब अर्थात् महाभूत एवं तन्मात्राएं बछड़ों का अनुकरण करने वाली गौओं के समान योगी की इच्छानुसार कार्य करने लगती है[3]।

यहां पर यह उल्लेखनीय है कि योगी सिद्धि प्राप्ति के फलस्वरूप सत्यसंकल्पयुक्त हो जाने पर भी सृष्टि के नियमों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता है । भास्वती में आचार्य आरण्य इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार शक्ति सामर्थ्ययुक्त भी राजा दूसरे के राज्य में हस्तक्षेप नहीं करता है उसी प्रकार सिद्ध योगी भी आदिकाल से चले आये

1- सामान्यं मूर्तिःशब्दादयो विशेषाः तदात्मा । त०वै० पृ० 368.

2- सामान्यं शब्दादिमात्रम् विशेषाः षड्जादयः । भा. पृ. 368.

3- तत्र पञ्चभूतस्वरूपाणि जित्वा भूतजयी भवति, तज्जयाद् वत्सानुसारिण्य गावोऽस्य संकल्पानुविधायिन्यो भूतप्रकृतयो भवन्ति ।

यो. भा.

चले आये सृष्टिक्रम में विपर्यय नहीं करता है[1]।

योगी को "कायसम्पत्" नामक सिद्धि प्राप्त होने से वह वज्र के सदृश अंगों से युक्त हो जाता है[2]। इन्द्रियों के ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय एवं अर्थवत्व इन पांच रूपों पर संयम करने से इन्द्रियजय नामक सिद्धि प्राप्त होती है[3]। इस सिद्धि के द्वारा योगी को इन्द्रिय और इन्द्रिय कारणों पर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है। संकल्पमात्र से ही योगी अभीष्ट इन्द्रियों को उत्पन्न करने में सक्षम हो जाता है[4]। इन्द्रियजय के परिणामस्वरूप मधुप्रतीका नामक सिद्धियां प्राप्त होती हैं[5]।

भास्वती के अनुसार मन के तीव्र गति के समान ही जब शरीर की भी तीव्र गति होती है तो इसे मनोजवित्व कहते हैं[6]। विकरणभाव नामक सिद्धि के द्वारा योगी की इन्द्रियां शरीर से निरपेक्ष होकर दूर देश के एवं भूत-भविष्यत्काल के अत्यन्त सूक्ष्म विषयों का भी ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं[7]।

बुद्धि और पुरुष की विवेकख्याति से युक्त चित्तवाले योगी को

1- [illegible] । 3-45.

1- यथा शक्तो अपि कश्चिद् राजा परराष्ट्रे न किंचिद् करोति तद्वत्, नाईति. भा. पृ. 371.

2- वज्रसंहननत्वं वज्रवद् दृढसंहतिः कायस्य सम्यगाभोगत्वमित्यर्थः भा. पृ. 371.

3- ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्वसंयमादिन्द्रियजयः । यो. सू. 3-47.

4- इन्द्रियजयः बाह्यान्तरोन्द्रियाणामभीष्टाकारेण परिणमनसामर्थ्यम्. भा. पृ. 3

5- ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च । यो. सू. 3-48.

6- मनोवज्जवो गतिवेगो मनोजवस्तत्त्वम् । भा. पृ. 374.

7- विदेहानां शरीरनिरपेक्षाणामिन्द्रियाणामभीप्सिते देशे काले विषये च वृत्तिलाभो ज्ञानचेष्टाद्विकरण सामर्थ्यं विकरणभावः। भा. पृ. 374.

सभी पदार्थों पर स्वामित्व एवं सर्वज्ञत्व की सिद्धि प्राप्त होती है[1]। सर्वज्ञत्व प्राप्ति से किसी भी वस्तु के भूत, वर्तमान एवं भविष्य के सभी धर्मों का युगपद ज्ञान हो जाता है ।

परन्तु योगी को इस विशोका नामक सिद्धि से भी वैराग्य हो जाता है क्योंकि उसे यह ज्ञान हो जाता है कि यह विवेकज सिद्धि भी सत्वगुण का ही परिणाम है एवं यह योग के अंतिम लक्ष्य— कैवल्य प्राप्ति की दृष्टि से हेय ही है । परिणामस्वरूप उस विरक्त योगी के क्लेश-कर्मादि के बीज दग्ध होकर फल देने में असमर्थ हो जाते हैं और चित्त में प्रलीन हो जाते हैं । उनके प्रविलय से पुरुष पर त्रिविध तापों का अभ्यास नहीं होता है[2]।

इस स्थिति में कर्मक्लेश विपाक रूप से चित्त में प्रतिभासित होने वाले तथा फलाभिव्यक्ति में असमर्थ सत्वादि त्रिगुण प्रकृति में लीन हो जाते हैं । फलस्वरूप पुरुष का प्रकृति के गुणों से पूर्ण वियोग हो जाता है ।

यही कैवल्य की अवस्था है एवं योगी का अंतिम लक्ष्य भी यही है । इस कैवल्य की अवस्था में पुरुष स्वरूप अर्थात अपने शुद्ध चैतन्यरूप में प्रतिष्ठित रहता है । भास्वतीकार के अनुसार योगभाष्य में आया हुआ एक "चितिशक्तिरेव पुरुषः" शब्द शाश्वत "सर्वकालिक" स्वरूप प्रतिष्ठा का द्योतक है[3]।

1- सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वञ्च ।यो. सू. 3

2- तापात्मक चित्तवृत्त्या गृहीतृबुद्धिसत्वाः प्रतिसंवेदी न भवतीत्यर्थः भा. पृ. -378.

3- एवशब्देन शाश्वतीं स्वरूपप्रतिष्ठां द्योतयति । भा. पृ. 388.

क्षण एवं क्षण के क्रम में संयम करने से भी योगी को विवेकज्ञान प्राप्त होता है[1]। आचार्य क्षण को सरल शब्दों में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार रूपादि द्रव्यों का सूक्ष्मतम रूप परमाणु है, उसी प्रकार काल का परमाणु क्षण है[2]।

क्षणों के निरन्तर प्रवाह को ही क्रम कहा जाता है। सभी वर्तमान पदार्थ उसी वर्तमान क्षण पर आरूढ़ रहते हैं। अर्थात् वर्तमान एक क्षण ही वास्तव अथवा वस्तु का अधिकरण है। अतः इस क्षण और उसके निरन्तर प्रवाहित होने वाले क्रम में संयम करने से क्षण एवं क्रम का साक्षात्कार होता है। इस साक्षात्कार के फलस्वरूप विवेकज्ञान की उत्पत्ति होती है।

लौकिक व्यवहार में सामान्यतः जाति, लक्षण तथा देश के भेदज्ञान से पदार्थों का भेदज्ञान होता है। परन्तु जब इस विधि से असंदिग्ध भेदज्ञान न हो सकता तो तब योगी विवेकज्ञान की सिद्धि का प्रयोग करता है।

सब प्रकार के गोचर ज्ञानों में क्षणावच्छिन्न परिणाम का ज्ञान ही सूक्ष्मतम ज्ञान है। इस ज्ञान से अधिक सूक्ष्म ज्ञान और कोई नहीं है।

आचार्य कहते हैं कि मूल प्रधान में कोई स्वगतादि भेद नहीं है, अतः उसमें भेदादि ज्ञान का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता है[3]।

यह विवेकज्ञान योगी की स्वप्रतिभा का प्रसाद है। भास्वती के

1- क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्। यो. सू. 3-52

2- यथा अपकर्षपर्यन्तं द्रव्यं सूक्ष्मतमं रूपादिद्रव्यं परमाणुस्तथा कालस्य परमाणुः क्षणः। भा. पृ. 381

3- यत्तो जात्यादिभेदो लोकबुद्धिगम्यस्ततोऽत उक्तं लक्षणभेदास्तु योगिबुद्धिगम्या एवेत विकारेष्वेव भेदो न तु सर्वमूले प्रधाने ह्याचार्यो वार्षगण्यो वक्ति मूर्तिव्यवधिजातिभेदानामभावान्नास्ति वस्तूनां मूलापरपर्यायं प्रधानं इत्यर्थः पृथक्त्वम्। भा. पृ. 382

अनुसार एक ही समय में सब कुछ ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है[1]। प्रकृति-पुरुष विवेकज्ञान ही ज्ञान की चरम-सीमा है । इससे परे कोई और ज्ञान योगी को साध्य नहीं है[2]।

कैवल्य का वर्णन करते हुए सूत्रकार पतंजलि कहते हैं कि बुद्धिसत्त्व और पुरुष की शुद्धि के समान हो जाने पर कैवल्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है[3]।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि कैवल्य की प्राप्ति विवेकज्ञानरूपी सिद्धि को प्राप्त कर लेने वाले योगियों के अतिरिक्त विवेकज्ञान रूपी सिद्धि न भी प्राप्त किये हुये योगियों को भी विवेकख्याति से ही हो जाती है ।

कैवल्य को स्पष्ट करते हुए भास्वतीकार कहते हैं — बुद्धिसत्त्व के शुद्ध होने पर बुद्धि के सत्त्व का—बुद्धि- तमस्- रजस्—का अभाव एवं पुरुष के उपचरित भोग का अभाव होने पर स्वरूपप्रतिष्ठ होना ही कैवल्य है[4]।

कैवल्य के आत्मसाक्षात्कार के अतिरिक्त योगियों को प्राप्त होने वाली सभी सिद्धियाँ लौकिक चमत्कार एवं भावप्रदर्शन का ही प्रकटीकरण करती हैं । अतः वे समाहितचित्त योगी के लिए ही सिद्धियाँ हैं[5]।

1- एकक्षणोपारूढं युगपत् सर्वं सर्वथा गृह्णातीति सर्वमिदं वर्तमानं नास्त्यस्य किञ्चिदतीतमनागतमित्येति । भा. पृ. 388.

2- विवेकजं ज्ञानं परिपूर्णं नातः परं ज्ञानोत्कर्षः साध्य इत्यर्थः भा. पृ. 388.

3- सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति — 3-55 ।

4- बुद्धिसत्त्वस्य शुद्धौ पुरुषसाम्ये च, तथा पुरुषस्योपचरितभोगाभावरूपशुद्धौ स्वसाम्ये च कैवल्यमिति सूत्रार्थः । भा. पृ. 389

5- स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् । 3-51.

ये सिद्धियाँ वस्तुतः पुरुष के साक्षात्कार की विरोधिनी हैं[1]। अतः कैवल्य पिपासुओं को इन सिद्धियों की अभिलाषा कदापि नहीं करनी चाहिए ।

डा. राधाकृष्णन् के अनुसार ये सिद्धियाँ वे फूल हैं जो हमें मार्ग में मिल जाते हैं, यद्यपि सत्य का अन्वेषक इन्हें चुनने के लिए नहीं निकला था । इन पूर्णताओं की उपेक्षा करने से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है[1]। इसी प्रकार के विचार "फण्डामेन्टल्स आफ् योग" नामक पुस्तक में राममूर्ति एस. मिश्रा ने भी व्यक्त किये हैं ।

यदि यहाँ पर यह शंका हो कि ये अलौकिक सिद्धियाँ सर्वथा उपेक्षणीय हैं तो इनका समावेश योगसूत्रों और योग-भाष्य में क्यों किया गया? इसका समाधान यह है कि योगियों को प्राप्त होनेवाली अलौकिक शक्तियों का ज्ञान होना आवश्यक है जिससे कि वे उच्चतर सिद्धियों की दिशा में अग्रसर हो सकें ।

शक्ति का ज्ञान होना जहाँ भौतिक प्राणियों को उसके दुरुपयोग के लिए प्रेरित करता है वहीं पर योगियों के लिए अधिकांशतः आत्मविश्वास, सदुपयोग एवं उपेक्षा की भावना ही उत्पन्न करता है ।

इन सिद्धियों के साक्षात्कार से योगी में आत्मविश्वास जागृत होता है ।

इस आत्मविश्वास के कारण वह द्विगुणित निष्ठा के साथ योगसाधना में तत्पर होता है । वैसे भी यद्यपि सिद्धियाँ समाधिस्थ लक्ष्य से निम्नस्तर की भले ही हों, परन्तु उच्चतम स्थिति को प्राप्त न होने पर भी निम्नस्तर की स्थितियों का अपना महत्त्व [illegible] एवं अमान्य नहीं किया जा सकता है । इसी कारण विभूतिपाद में सम्मिलित सिद्धियों का विस्तृत विवरण सर्वथा तर्कसंगत है ।

1- द्रष्टव्य—हिस्ट्री ऑफ् इंडियन फिलॉसफ़ी—डा. राधाकृष्णन्, पृ. 362.

सप्तम अध्याय

योगदर्शन में भास्वती का मूल्यांकन

...

सप्तम अध्याय

भास्वती का मूल्यांकन

रत्नाकरः प्रवादानां भाष्यं व्यासविनिर्मितं।
शिष्याणां सुखबोधार्थं टीकेयं तत्र भास्वती।।

आचार्य हरिहरानन्द आरण्य की यौगिक अन्तर्दृष्टि से अनुप्राणित होने के कारण अर्वाचीन संस्कृत टीकाओं में भास्वती अपना वैशिष्ट्य रखती है । यह टीका विश्वसनीय एवं अत्यन्त उपादेय है । समस्त टीका में सांख्य योग को यत्र तत्र स्पष्ट किया गया है । इसके आरम्भ में सांख्य और योग के ऐकत्व को प्रतिपादन के लिए गीता की उक्ति प्रयुक्त की गयी है — सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः । आचार्य के अनुसार सांख्य और योग में अत्यल्प अन्तर यह है कि सांख्य में तत्त्वसाक्षात्कार के लिए निदिध्यासन और अभ्यास वैराग्य का आलम्बन लेना पड़ता है जबकि योग में तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधानरूप, क्रिया-रूप एवं क्रमेण अष्टांग योगादि का अनुष्ठान आत्मसाक्षात्कार के लिए करना पड़ता है । कहीं-कहीं "अथ" एवं "ननु" आदि द्वारा शंका उठाकर उसका समाधान प्रस्तुत किया गया है पर यह स्वपक्ष को प्रमाणित करने के ही लिए । परमत खण्डन का प्रायेण अभाव होने के कारण भास्वती में जनसाधारण की दृष्टि में अत्यधिक ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया ।

भास्वती में आचार्य ने अनावश्यक विस्तार के लोभ का संवरण किया है उनकी व्याख्या अधूरी नहीं है परन्तु पूर्ण होते हुए भी संक्षिप्त है । पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए अनावश्यक विस्तार कहीं पर भी दृष्टिगत नहीं होता है । अपने कथन को प्रमाणित करने के लिए यत्र-तत्र श्रुतियों एवं स्मृतियों से उद्धरण दिये गये हैं । यथा-श्रुतेः "यद् यद् विद्यया श्रद्धयोप-निषदा च तदेव वीर्यवत्तरं भवति" सूत्र संख्या ।8 । सरल भाषा एवं

छोटे और स्पष्ट अर्थ वाले वाक्यों का प्रयोग किया गया है विषय को प्रतिपादित करने की शैली सुगम है ।

सत्त्व के सत्त्व, रजस एवं तमस इन त्रिगुणों के ही आधार पर भारत में वैदिक शास्त्र की उत्पत्ति एवं विकास हुआ है । अतः धर्म एवं दर्शन के अतिरिक्त बाह्य विषयों में भी सांख्ययोग पर लिखी गई टीकाओं का योगदान अस्वीकार नहीं किया जा सकता है ।

वाचस्पति मिश्र की तत्त्ववैशारदी एवं विज्ञानभिक्षु कृत योगवार्तिक आदि के पश्चात् अर्थात् सोलहवीं शताब्दी के पश्चात् नागेश भट्ट एवं महादेव वेदान्तीवृत्ति ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रन्थ का प्रणयन सांख्ययोग में नहीं हुआ था । ऐसी स्थिति में आधुनिक काल में सांख्ययोग को लोकप्रिय बनाने के लिए एवं ज्ञान-पिपासुओं की ज्ञानपिपासा का उपशमन करने के लिए आचार्य ने अपनी लेखनी उठायी । तत्त्ववैशारदी भोजवृत्ति एवं योगवार्तिक यद्यपि सभी टीकाएं विद्वत्समाज में आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं फिर भी वे दोष से पूर्णतः रहित नहीं हैं, कुछ न कुछ कमी उनमें रह ही गयी है। उनकी व्याख्याओं में अपने तर्कों एवं पाण्डित्य के द्वारा विषय को स्पष्ट करने की प्रवृत्ति अधिक दृष्टिगत होती है । वाचस्पति मिश्र के अनन्तर भोजराज ने अपनी वृत्ति की रचना की । भोजवृत्ति में अयुक्त दोषों का परिमार्जन तो हो गया परन्तु यह वृत्ति केवल सूत्रों पर ही होने के कारण विषय का पूर्ण-स्पष्टीकरण नहीं हो सका । तत्पश्चात् सोलहवीं शताब्दी में विज्ञानभिक्षु का योगवार्तिक प्रकाश में आया । विज्ञानभिक्षु के पास योग का स्वानुभव अवश्य था, परन्तु रचनाशैली की दुरूहता एवं खण्डनमण्डन यत्र-तत्र होने के कारण साधारण विद्यार्थी के लिए योग का विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करना जटिल एवं कठिन हो गया था । ऐसी स्थिति में आधुनिक काल में

आचार्य ने भास्वती की रचना करके एवं व्यासभाष्य को सरल बनाया तथा ज्ञानपिपासुओं की ज्ञानपिपासा का शमन किया । समय की प्रबल माँग से ही भास्वती का निर्माण हो सका । वैसे तो ब्रिटिश शासकों की प्रभुता के कारण अंग्रेज विद्वान भारतीय दर्शन पर अल्प अध्ययन करके पाठकों के सम्मुख भ्रान्त स्वरूप प्रकट करते थे । योग की विभूतियों को जादू आदि समझकर उसका उपहास किया जाता था । भारतीय दार्शनिक मान्यताओं के विस्मरण की महान आशंका थी, ऐसी दशा में भास्वती में योग का स्पष्ट रूप प्रकाश में आया । वर्तमान काल में योग भारत में ही नहीं अपितु पाश्चात्य देशों में भी अत्यन्त लोकप्रिय हो रहा है । लोकप्रियता की चरम सीमा पर आरूढ़ योगदर्शन का अत्यन्त सरल भाषा में सम्यक् दिग्दर्शन कराने का श्रेय आचार्य हरिहरानन्द आरण्यकृत भास्वती को दिया जा सकता है ।

योगदर्शन मानव के व्यवहारिक जीवन से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है । योग साधना एवं योग के ज्ञान से व्यावहारिक जीवन में मनुष्य सभी क्षेत्रों में सफलता प्राप्त कर सकता है । कपिल प्रणीत व्यास के द्वारा विस्तृत योग जनसाधारण के लिए उपयोगी बनाना एक गुरुतर कार्य था, साथ ही साथ योग केवल कुछ गिने चुने विद्वानों और पण्डितों की चर्चा का विषय बन कर रह गया था । अतः इस गंभीर और कठिन कार्य को आचार्यकृत भास्वती ने सफलतापूर्वक पूर्ण कर दिया । तर्कों के खण्डन-मण्डन के कारण दर्शन की ओर से विद्यार्थी उदासीन होने लगे थे । इसी लिए भास्वती के प्रारम्भ में "शिष्याणां सुखबोधार्थं" कहकर योगदर्शन को विद्यार्थीगण तक पहुँचाने का अमर सन्देश दिया गया है ।

अन्त में भास्वती के विषय में संक्षेप में केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि भास्वती भारतीय दर्शन की एक अति देदीप्यमान शिखा है जो सांख्ययोग पथ की पथिकों के लिए प्रकाशपुन्ज के समान प्रकाशित होती रहती है ।

सुप्रसन्नपदां टीकां भास्वतीं श्रद्धयाआप्लुतः ।
हरिहरयतिकृते सांख्यप्रच्यनस्य हि ।।

...

सहायक ग्रन्थों की नामावली

(ग्रन्थ-ग्रन्थकार-प्रकाशक-प्रकाशन-स्थल- एवं काल)

...

1— गीता (श्रीमद्भगवद्गीता) सं. कृष्णपंत शास्त्री--अच्युत ग्रंथमाला, वाराणसी, संवत 2023.

2— तत्त्ववैशारदी (सांख्ययोगदर्शनम्) सं. दामोदर शास्त्री-- चौखम्भा प्रका वाराणसी, 1935

3— आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान-- डा. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, 1967.

4— इंडियन फिलासफी-- डा. राधाकृष्णन-- लन्दन, 1927.

5— अमरकोष-- व्या. हरगोविन्द शास्त्री-- चोखम्बा प्रकाशन, वाराणसी. 19

6— अथर्ववेद-- सं. सातवलेकर- स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड़ ।

7— उपनिषद् भाष्यम् -- गीता प्रेस, गोरखपुर ।

8— दि कम्पलीट इलस्ट्रेटेड बुक आफ योग-- विष्णुदेवानन्द, लन्दन, 1956.

9— न्यायभाष्य-- न्यायसुदर्शनाचार्य -- गुजराती प्रेस, बम्बई, 1917.

10- तत्त्वयाथार्थ्यदीपनम्-- भावागणेश- चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, 1920.

11- तैत्तरीय आरण्यक-- आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1956.

12- कठोपनिषद् ।

13- गरुड़ पुराण-- सं. रामशंकर भट्टाचार्य-- चोखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, 1964.

14- पातंजलरहस्यम्-- राघवानन्द, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी. 1935

15- राजयोग-- स्वामी विवेकानन्द, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 1976.

16- सर्वदर्शन संग्रह, माधवाचार्य, पूना, 1906

सहायक ग्रन्थों की नामावली

(ग्रन्थ-ग्रन्थकार-प्रकाशक-प्रकाशन-स्थल- एवं काल)

...

1— गीता (श्रीमद्भगवद्गीता) सं. कृष्णपंत शास्त्री—अच्युत ग्रंथमाला, वाराणसी, संवत 2023.

2— तत्त्ववैशारदी (सांख्ययोगदर्शनम्) सं. दामोदर शास्त्री— चौखम्भा प्रका वाराणसी, 1935

3— आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान— डा. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, 1967.

4— इंडियन फिलासफी— डा. राधाकृष्णन— लन्दन, 1927.

5— अमरकोष— व्या. हरगोविन्द शास्त्री— चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी. 19

6— अथर्ववेद— सं. सातवलेकर- स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड़ ।

7— उपनिषद् भाष्यम् — गीता प्रेस, गोरखपुर ।

8— दि कम्पलीट इलस्ट्रेटेड बुक आफ योग— विष्णुदेवानन्द, लन्दन, 1956.

9— न्यायभाष्य— न्यायसुदर्शनाचार्य — गुजराती प्रेस, बम्बई, 1917.

10— तत्त्वयाथार्थ्यदीपनम्— भावागणेश- चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, 1920.

11— तैत्तरीय आरण्यक— आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1956.

12— कठोपनिषद् ।

13— गरुड़ पुराण— सं. रामशंकर भट्टाचार्य— चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, 1964.

14— पातंजलरहस्यम्— राघवानन्द, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी. 1935

15— राजयोग— स्वामी विवेकानन्द, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 1976.

16— सर्वदर्शन संग्रह, माधवाचार्य, पूना, 1906

सहायक ग्रन्थों की नामावली

(ग्रन्थ-ग्रन्थकार-प्रकाशक-प्रकाशन-स्थल- एवं काल)

...

1— गीता (श्रीमद्भगवद्गीता) सं. कृष्णपंत शास्त्री--अच्युत ग्रंथमाला, वाराणसी, संवत 2023.

2— तत्त्ववैशारदी (सांख्ययोगदर्शनम्) सं. दामोदर शास्त्री— चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, 1935.

3— आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान— डा. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, 1967.

4--- इंडियन फिलासफी— डा. राधाकृष्णन-- लन्दन, 1927.

5--- अमरकोष-- व्या. हरगोविन्द शास्त्री— चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी. 1957.

6--- अथर्ववेद-- सं. सातवलेकर- स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड़ ।

7— उपनिषद् भाष्यम् — गीता प्रेस, गोरखपुर ।

8— दि कम्पलीट इलस्ट्रेटेड बुक आफ योग— विष्णुदेवानन्द, लन्दन, 1956.

9— न्यायभाष्य— न्यायसूदर्शनाचार्य — गुजराती प्रेस, बम्बई, 1917.

10— तत्त्वयाथार्थ्यदीपनम्— भावागणेश- चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, 1920.

11- तैत्तरीयआरण्यक— आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1956.

12- कठोपनिषद् ।

13- मत्स्य पुराण— सं. रामशंकर भट्टाचार्य— चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, 1964.

14- पातंजलरहस्यम्— राघवानन्द, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी. 1935.

15- राजयोग— स्वामी विवेकानन्द, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 1976.

16- सर्वदर्शन संग्रह, माधवाचार्य पूना, 1906

17- सांख्य प्रवचन भाष्य—सं. रामशंकर भट्टाचार्य— भारतीय विद्या प्रकाशन, सं. 2022.

18- सांख्यदर्शन का इतिहास— उदयवीर शास्त्री, ज्वालापुर, 1950.

19- पंचदशी— विद्यारण्य—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1949.

20- वंगदर्शन पत्रिका [नवपर्याय 1312 ज्येष्ठ सं.]

21- सांख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा— डा. आद्याप्रसाद मिश्र— प्रेम प्रकाशन, इलाहाबाद, 1969.

22- योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त— बी. एल. आत्रेय, वाराणसी. 1957.

23- पातंजलसूत्र रा. मा. वृ. सहित— भोजराज, बनारस, 1913.

24- भास्वती [सांख्योगदर्शनम्] सं. दामोदर शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, 1935.

25- मनुस्मृति— सं. गोपाल शास्त्री नेने — चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी. 1970.

26- योगवासिष्ठ — बम्बई, 1915.

27- योगकारिका— सं0 दामोदर शास्त्री, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1935.

28- योगसूत्रभाष्यसिद्धि— डा. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव— संचित प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971.

29- हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी— डा. एस. एन. दासगुप्ता— कैम्ब्रिज, 1940.

30- सांख्यकारिका— ढुण्डिराज शास्त्री— चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1953.

31- भारतीय दर्शन—बल्देव उपाध्याय, वाराणसी, 1957.

32- भारतीय दर्शन— उमेश मिश्र, लखनऊ, 1957.

...

संकेतों का विवरण

पृ. — — पृष्ठ

सू. सं. — — सूत्र संख्या

त. वै. — — तत्त्व वैशारदी

भा. — — भास्वती

यो. भा. — — योगभाष्य

यो. सू. — — योगसूत्र

सां. त. कौ. — — सांख्यतत्त्वकौमुदी

पा. सू. वृ. — — पातंजलिसूत्रवृत्ति

यो. वा. — — योगवार्तिकम्

पा. र. — — पातंजलि रहस्य

यो. का. — — योगकारिका

मणि. — — मणिप्रभा टीका

श्रीमद् भा. — — श्रीमद्भागवत

हरि. आ. — — हरिहरानन्द आरण्य

वा. मि. — — वाचस्पति मिश्र

राघ. स. — — राघवानन्द सरस्वती

भो. वृ. — — भोजवृत्ति

भा. का. — — भास्वतीकार

भ. गी. — — भगवद्गीता

वि. भि. — — विज्ञानभिक्षु

...